सच्चित्-ग्रन्थमाला पञ्चम पुष्प

धर्म और दर्शन

[भारतीय धर्म तथा दर्शन के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रामाणिक वर्णन]
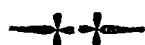
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।

लेखक—

बलदेव उपाध्याय,

(एम० ए०, साहित्याचार्य)

प्रोफेसर, संस्कृत तथा पाली विभाग

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।
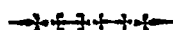
१९४५

वक्तव्य

दर्शन-प्रेमी पाठकों के सामने यह नवीन ग्रन्थ प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। 'भारतीय दर्शन' में धार्मिक सम्प्रदायों के वर्णन का अवसर न था। दर्शन के अन्य सिद्धान्तों का भी वर्णन अपेक्षाकृत न्यून था। इस ग्रन्थ में इस कमी की पूर्ति की गई है तथा 'धर्म और दर्शन' के अन्योन्य उपकार्योपकारक भाव को स्पष्टतः दिखलाया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को 'भारतीय दर्शन' का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिए। इसके कुछ अंश पहले लेख के रूप में लिखे गये थे, परन्तु अधिक अंश नया लिखा गया है। पाठकों से नम्र-निवेदन है कि भारतीय दर्शन के समान ही वे इस छोटे ग्रन्थ को भी अपनावेंगे और मेरा उत्साह बढ़ावेंगे।

वैदिक धर्म और दर्शन के परम उन्नायक तथा प्रतिष्ठापक श्रीशंकराचार्य की पुण्य स्मृति में आज एकादशी को यह 'धर्म और दर्शन' नामक ग्रन्थ समधिक सम्मान तथा अतिशय आदर के साथ समर्पित किया जा रहा है।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
श्रावण कृष्णा ११

बलदेव उपाध्याय।

विषय-सूची

धर्म खण्ड

दर्शन खण्ड

विषय — पृष्ठ

धर्म और दर्शन

[वैदिक-धर्म]

(१) वेद में देवता-तत्त्व

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है जहाँ से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति तथा प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है। परन्तु श्रुति-सम्मत दार्शनिक विचारों की रूप-रेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार से किया जाता है—प्राचीन पद्धति से तथा अर्वाचीन पाश्चात्य रीति से। पाश्चात्य पद्धति वेदार्थ-परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है। प्राचीन पद्धति इतिहास-

पुराण को वेदार्थ का उपबृंहण मानती है[1] तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टिभेद की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्य वर्ग वेदों को असभ्य या अर्धसभ्य आरम्भिक आर्यजनों के अनगढ़ गायनों से बढ़कर महत्त्व देना नहीं चाहता, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य हैं, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म को साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद ही हैं[2]। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित-अलौकिक उपाय को बोध कराते हैं[3]।

वेदों में देवतास्तुति ही प्रधान विषय है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान, तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सब से अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसकी ही कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धि प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

—महाभारत (आदिपर्व १।२६८)

२ द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका पृ० २.

३ श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।

—शाङ्करभाष्य २।३।१.

महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला); धृतव्रत (नियमों को धारण करनेवाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादन करनेवाला) तथा सम्राट् (सम्यक्रूप से प्रकाशित होनेवाला तथा शासन करनेवाला) कहा गया है[1]। सर्वज्ञ वरुण प्राणीमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र[2] वीर योद्धाओं को संग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करनेवाले देवता हैं। वज्रबाहु (वज्र के समान बलशाली बाहुवाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्नभिन्न कर डालते हैं (पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंगवाले दास्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के द्वारा रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु आकाशगामी सन्तत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को नाप डाला है[3]। इस कारण वे 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पाद-विन्यास किया गया है मधु का कूप है। उस लोक में शीघ्रगामिनी भूरिश्रृङ्ग गायें (किरणें) इधर से उधर सतत आया जाया करती हैं। (यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः—ऋ० वे० १।१५४।६)[4] सवितृ देव सुप्त प्राणियों में जीवन

---

१ ऋग्वेद—१ मण्डल २५ सूक्त।
२ ऋग्वेद—२ मण्डल १२ सूक्त।

३ यही कल्पना वामनावतार की कल्पना की जननी है। इसी कारण वामन 'त्रिविक्रम' कहे जाते हैं। पुराणों में 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' शब्दों का हरि के लिए प्रयोग इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर किया गया है।

४. वैष्णवों के गोलोक की कल्पना का आधार यही मन्त्र है। भगवान् के परम पद का नाम 'गो लोक' हैं अर्थात् वह लोक जहाँ सूर्य की किरणों का निरवच्छिन्न तथा अनवरत प्रसार हो। द्रष्टव्य बृहद्ब्रह्मसंहिता ३।१।

का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० वे० ६।५३) भूले भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। यह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। 'मित्र' मानवमात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सब से सुन्दर देवी उषा है जो द्यौः (आकाश) की पुत्री हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूपधारिणी भगिनी है। वह पुराणी युवति हैं—पुरानी होने पर भी सतत युवति है। वैदिक मन्त्रों में सब से सुन्दर कमनीय कल्पना वाले मंत्र उषा की स्तुति में प्रयुक्त किये गये हैं (ऋ० वे० ३।६१)। आगे चलकर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि-ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा, और मन्यु, श्रद्धा आदि नये २ देवताओं की सृष्टि होने लगी।

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची-दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बनाने वाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल में रजत रश्मियों को बिखेर कर जगत् मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगाने वाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय उत्पन्न नहीं करते? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजुली की लपक तथा कर्ण कुहरों को वधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्य मात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न

देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीड़ा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पॉलीथीज़म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मॉनोथीज़म (एकेश्वर-वाद)[1]। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैनूथीज़म) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सब से अधिक अर्वाचीन है।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है, देवतातत्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी जितनी वे लोग बतलाते हैं।

यास्क ने निरुक्त दैवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के

---

१ मैकडोनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११६-१३८।
Macdonell : History of Sanskrit Literature.

स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर कहलाती है। वह एक, अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ (७।४।८,९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है।[1] परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं, ऋग्वेद के अध्ययन से ही देवतातत्त्व का रहस्य हम भली भाँति समझ सकते हैं।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकाशमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने[2] स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि "एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसी को यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना किया करते हैं"। शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र

१ बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१-६५.

२ एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः—ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२

के भाष्य में) इस मंत्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[1]। 'असुर' का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्ति मात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः विश्वतस्पारि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य', 'ध्रुव' 'नित्य' प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५ वाँ सूक्त) में देवताओं का 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र, नहीं है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानामसुरत्वमेकम् = देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। "जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है"।

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की

---

१ तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः (४।५३।१)
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः (५।८३.६)
महद् विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा (३।३८।४)

उत्पत्ति होती है[1]। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ[2]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८।८)। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[3] (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो स्थूल दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह है उनका गूढ़रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिए। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस

---

१. द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५.

२. ऋतं च सत्य चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋ० वे० १०।१९०।१।

३. ऋतमर्पन्ति सिन्धवः।

विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है[1], परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र हैं—अमृतकूप है[2]। उस परमपद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोग-विद्वज्जन ही—जानते हैं[3]। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसीलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत्+तर = उत्तर, उत्+तम = उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर है। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मंत्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है[4]। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

---

१ ऋ० वे० १।१५४।१

२. ,, ,, ,, ।५

३. तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ ऋ० वे० १।२२।२१।

४ उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
—ऋ० वे० १।२०।१०.

(जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है)' इस मंत्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है ? 'आत्म' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है ।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है । ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि । 'तिरोहित' शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है । अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है । 'अग्नि-मीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त, पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[1] ।

इन प्रमाणों के आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि देवताओं की जो भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में पाश्चात्य कल्पना है वह निर्मूलक है तथा उसी के साथ वैदिकधर्म के विकास का कल्पित क्रम भी उतना ही निःसार है । सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है । अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है । नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक-कालीन आर्षचक्षुः-सम्पन्न महर्षियों को ही है ।

---

१ देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिये देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री—अद्वैतवाद (बँगला), पञ्चम अध्याय ।

(२) रुद्र का वैदिक स्वरूप

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल में तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल में न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता हैं, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे धीरे अनेक शताब्दियों में सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने से रुद्र के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वाँ सूक्त, २मण्डल का ३३वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड का पाँचवाँ और सातवाँ प्रपाठक तथा शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का १६वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात हैं। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है: रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।७)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।.१४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप

धारण करनेवाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा, तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड, २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नोलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)[1]। उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी कभी वे मुण्डित केश (व्युप्तकेश शु० यु० १६।२९) भी कहे गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेशः)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुशः १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष् तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हज़ारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य०

---

१ नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

१६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[1]। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अंगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का बना हुआ ज़िरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना गया था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्तिं वसानः— शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहनकर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाए रहते हैं। इसीलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

> विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
> अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः॥
>
> —शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ वृषभ हैं; वे तरुण हैं और उनका तारुण्य सदा टिकनेवाला है; वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में जल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न माननेवाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यों के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसीलिए वे

---

१ पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमय शरीररक्षकं वर्म।
—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' सञ्ज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतों के पिता होने के विषय में षड्गुरुशिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' में रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर धा द्विवेद ने 'नीतिमञ्जरी' में यह उपदेश निकाला है—

> दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
> दितेर्गर्भव्यथां हत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता॥

पिछले ग्रन्थों में रुद्र के लिये 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है:—

> त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
> उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

—ऋ० ७।५९।१२

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्र वाला' किया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननी वाचक मान कर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना अन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है—एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते

हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नहीं मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियों के ऊपर इनका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१) पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है:—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः (अ० ११।२।९)

इस प्रकार 'पशु' के तान्त्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं वह नाना वस्तुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि में, जल में, औषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त
र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।

य इमा विश्वा भुवनानि चाकॢपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥
—अथर्व ७।८३.

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर रहा है। यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओं की बात। ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसङ्ग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है वहाँ गौरव के ख़याल से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर संमाननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य में रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहाँ ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (११२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्यसम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (३।२),

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप

से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कटरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली संहिताएँ 'उग्र' के नाम से पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नहीं मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति)। पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ़ निकालने का विशेष परिश्रम किया है (इन सब मतों के लिये डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी

---

१ 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

आफ़ वेद' पृ० १४६-७ देखिए।) डा० वेबर रुद्र को तूफ़ान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० आदेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनबर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा भी हैमवती कही जाती हैं। अतः इस मत के लिये भी कुछ आधार है। परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है। रुद्र के पूर्व वर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनों से कथमपि नहीं बैठता। इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती है।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसीलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भली भाँति हो जाता है। इस सिद्धान्त के पोषक वैदिक प्रमाणों पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८२) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र में इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (२।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रु

अग्नि है ; 'शर्व' जलरूप है ; 'पशुपति' ओषधि है, 'उग्र' वायु है ; 'अशनि' विद्युत् है : 'भव' पर्जन्य है ; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्य-लोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा बाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं :—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच से चमकनेवाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के संसार को लीलने के लिये जीभ लपलपाने का वर्णन मिलता है। मुझे जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम्' शब्दों के द्वारा काले बलाहकों के बीच में कौंधनेवाली क्षण-क्षण में चमकनेवाली बिजुली की ओर स्पष्ट संकेत है। इसीको पुष्ट करनेवाली अथर्ववेदीय प्रार्थना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमें संसक्त न कीजिए। यह जो बिजुली दीख रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कहीं अन्यत्र गिराइए—

मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्। —अ० ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भाँति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यों में वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्‌तमं त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंढक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओं को रखनेवाला)।

(क्व स्य ते रुद्र मृळयाकु-
हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। ऋ० २।३३।७)

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं, संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्ति में भी उपादेयता दीख पड़ती है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीज प्ररोह जननीं ज्वलनः करोति। (रघु० ९।८०)

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत् के मंगल

साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गई है, परन्तु इस अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७) ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हम लोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे-सम्बन्धियों के ऊपर उस दान-शील की दया सतत बनी रहे :—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ (ऋ० २।३३।१४)

---

(३) श्रीगणपतिरहस्य

१

आध्यात्मिक रहस्य

गणपतितत्त्व निरूपण करने के पहले ही गणेश के वैदिकत्व के विषय में सामान्य चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से विकास सिद्धान्त के अनुसार प्रायः सब पौराणिक देवताओं का मूलरूप वेद में मिलता है। धीरे धीरे ये विकाश को प्राप्त होकर कुछ नवीन रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। गणेशजी भी वैदिक देवता हैं, परन्तु इनका नाम वेदों में गणेश न होकर 'ब्रह्मणस्पति' है। जो वेद में 'ब्रह्मणस्पति' के नाम से अनेक सूक्तों में अभिहित किये गये हैं उन्हीं देवता का नाम पीछे पुराणों में 'गणेश'

मिलता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का यह सुप्रसिद्ध मन्त्र गणपति की ही स्तुति में है—

"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ
नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥"

इसमें आप 'ब्रह्मणस्पति' कहे गये हैं। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वाक्—वाणी—है। अतः ब्रह्मणस्पति का अर्थ वाक्पति - वाचस्पति—वाणी का स्वामी हुआ। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में ब्रह्मणस्पति का यही अर्थ प्रदर्शित किया गया है—

"एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः।
वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः॥"

'ज्येष्ठराज' शब्द जो पीछे गणपति के लिए प्रयुक्त किया गया मिलता है यहीं का है। इसका अर्थ है सब से ज्येष्ठ—सब से पहले उत्पन्न होनेवाले देवताओं के राजा—शासनकर्ता। इन्द्र तो केवल देवों के अधिपतिमात्र हैं, परन्तु इन्द्र के भी प्रेरक होने से आप का नाम ज्येष्ठराज है। इस मन्त्र से गृत्समद ऋषि देवगणों के अधिपति, क्रान्तदर्शी—अतीत अनागत के भी द्रष्टा—कवियों के कवि, अनुपमेय कीर्तिसम्पन्न ज्येष्ठराज ब्रह्मणस्पति का आवाहन करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमारे आवाहन मन्त्र को सुनते हुए आप अपनी रक्षा के साथ हमारे गृह में आकर निवास कीजिये। यह पूरा का पूरा सूक्त ब्रह्मणस्पति गणपति—की प्रशंसा में है। अन्य सूक्तों में भी आप की स्तुति मिलती है अतः गणेशजी को ब्रह्मणस्पति के रूप में वैदिक देवता होने में तनिक भी सन्देह नहीं। और भी एक बात है—गणेश के जिस विशिष्ट रूप का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है उसका आभास वैदिक ऋचाओं में स्पष्ट रीति से मिलता है। निम्नलिखित मन्त्रों में गणपति को

'महाहस्ती', 'एकदन्त', वक्रतुण्ड' तथा 'दन्ती' कहा गया है—

"आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्रामं संगृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि।
तन्नो 'दन्ती' प्रचोदयात् ॥"

'गणपतितत्त्वरत्नम्' में 'गणपति के वैदिक स्वरूप का अच्छा वर्णन मिलता है।

गणपति शब्द का अर्थ है—'गणों का पति।' इसी अर्थ में गणों के ईश होने से इन्हें गणेश भी कहते हैं। यहाँ 'गण' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। 'गण् समूहे' इस समूहवाचक गण्धातु से 'गण' शब्द बना है। अतः इसका सामान्यार्थ समूह—समुदाय होता है। परन्तु, यहाँ पर इसका अर्थ देवताओं का गण, महत्तत्त्व अहंकारादि तत्त्वों का समुदाय तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्मगण है। अतः गणपति शब्द से यह सूचित होता है कि आप समस्त देवतावृन्द के रक्षक हैं, महत्तत्त्व आदि जितने सृष्टि-तत्त्व है उनके भी आप स्वामी हैं अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति इन्हीं से हुई। सगुण-निर्गुण ब्रह्मसमुदाय के पति होने से गणपति ही इस जगत् में सब से श्रेष्ठ तथा माननीय देवाधिदेव है। 'गण' की दूसरी व्याख्या से आप का जगत्कर्तृत्व और भी अधिक रूप से स्पष्ट प्रतीत होता है। मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य विश्व का वाचक 'ग' अक्षर है तथा मनोवाणीविहीन रूप का ज्ञान 'ण' अक्षर कराता है। इस प्रकार 'गण' शब्द के द्वारा जितना मनोवाणीसमन्वित तथा तद्विरहित जगत् है, सब का ज्ञान हमें होता है। उसके पति—ईश होने के कारण हमारे आराध्य गणेश सर्वतोमहान् देव हैं। 'गण' शब्द की यह व्याख्या 'मौद्गल पुराण' में इस प्रकार कथित है—

"मनोवाणीमयं सर्वं दृश्यादृश्यस्वरूपकम्।
गकारात्मकमेवं तत् तत्र ब्रह्म गकारकः ॥

मनोवाणीविहीनं च संयोगायोगसंस्थितम् ।
णकारात्मकरूपं तत् णकारस्तत्र संस्थितः ॥"

गणपति का मुख हाथी के आकार का बतलाया जाता है। इसी से उन्हें गजानन, गजास्य, सिन्धुरानन आदि नामों से अभिहित किया जाता है। इस विचित्र रूप के लिए पुराण में समुचित कथानक भी वर्णित है। परन्तु, इस रूप के द्वारा जिस अव्यक्त भावना को व्यक्त रूप दिया गया है वह नितान्त मनोरम है। गणपति के अन्तर्निहित गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व को जिस ढंग से इस रूप के द्वारा सर्वजनसंवेद्य बनाने की कल्पना की गयी है वह वास्तव में अत्यन्त सुन्दर है। गणपति के बाह्य रूप को समझना क्या है, उनके आभ्यन्तर गुहास्थित सत्य रूप की पहचान करना है। उनके रहस्य जानने के लिए यह बड़ी भारी मूल्य-वाली कुंजी है।

गणेशजी का सकल अंग एक प्रकार का नहीं है। मुख है गज का, परन्तु कण्ठ के नीचे का भाग है मनुष्य का। इनके देह में नर तथा गज का अनुपम सम्मिलन है। 'गज' किसे कहते हैं? 'गज' कहते हैं साक्षात् ब्रह्म को। समाधि के द्वारा योगीजन जिसके पास जाते हैं—जिसे प्राप्त करते हैं वह हुआ 'ग' (समाधिना योगिनो यत्र गच्छन्तीति गः) तथा जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है वह हुआ 'ज' (यस्माद् बिम्बप्रतिबिम्बतया प्रणवात्मक जगत् जायते इति जः) विश्वकारण होने से वह ब्रह्म गज कहलाता है। गणेश का ऊपरी भाग गजाकृति है अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म है। ऊपरी भाग श्रेष्ठ अंश होता है—मस्तक देह का राजा है। अतः गणपति का यह अंश भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह निरुपाधि—उपाधिरहित—मायानवच्छिन्न ब्रह्म का सङ्केतक है। नर से अभिप्राय मनुष्य—जीव—सोपाधि ब्रह्म से है। अधोभाग ऊपरी भाग की अपेक्षा निकृष्ट होता है। अतः सोपाधि अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य—जीव—का रूप होने से अधोभाग निकृष्ट है। अथवा 'तत्त्वमसि' महावाक्य की

दृष्टि से हम कहेंगे कि गणेशजी का मस्तक 'तत्' पदार्थ का तथा अधोभाग 'त्वं' पदार्थ का निर्देश करता है। 'तत्' पद मायानवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य निरुपाधि ब्रह्म का वाचक है अतः उसके द्योतन के लिए गजानन का उत्तमाङ्ग नितान्त उचित है। 'त्वं' पद उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् जीव का सङ्केतक है अतः गजानन का नराकार अधोभाग उसकी अभिव्यक्ति करने में समुचित ही है। इन दोनों पदार्थों का 'असि'—पदप्रतिपाद्य समन्वय ('तत् त्वमसि' इस महावाक्य में) गणपति में प्रत्यक्षरूप से दिखायी पड़ता है। जिस 'तत् त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का परिशीलन सतत समाधिनिष्ठ ज्ञानीजन अनेक उपायों से किया करते हैं, जिसकी प्राप्ति अनेक जन्मसाध्य सत्कर्मों का जाग्रत परिणाम है, उसी की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हमारे जैसे सर्वसाधारण उदरम्भरि पामर जन के लिए है। श्री गजाननजी महाराज की मङ्गलमूर्ति 'श्रीगणेशाथर्वशीर्ष' की आदिम श्रुति—"त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि" के 'प्रत्यक्ष' पद का सकलविद्वज्जनमनोरम अभिप्राय यही है जो ऊपर अभिव्यक्त किया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि 'गणेशपुराण' के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'गणपतिसहस्रनाम' के द्वारा होती है। वहाँ गणेशजी के सहस्रनामों में एक नाम है—'तत्त्वंपदनिरूपितः।' यथा—

"तत्त्वानां परमं तत्त्वं तत्त्वंपदनिरूपितः।
तारकान्तरसंस्थानस्तारकस्तारकान्तकः ॥९६॥"

इस अभिधान के द्वारा गणपति-स्वरूप का जो जीव-ब्रह्मैक्यप्रतिपादनपरक श्रुतिसम्मत तात्पर्य निरूपण किया गया है उसकी सुचारु रूप से प्रतिपत्ति होती है।

गणपति की मनोज्ञ मूर्ति की आध्यात्मिकता पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके साक्षात् पर ब्रह्म होने की वास्तविकता प्रकट होने लगती है। गणेशजी 'एकदन्त' कहे जाते हैं। उनका दाहिना ही दाँत विद्यमान है। पुराणों में उनके बाएँ दाँत के भंग होने की कथा

मिलती है। अतः उन्हें 'भक्तवामरद' कहा गया है। इस नाम के यथार्थ ज्ञान से उनके सत्यरूप का हमें पता चलता है। 'एक' शब्द यहाँ माया का बोधक है तथा 'दन्त' शब्द सत्ताधारक मायाचालक ब्रह्म का द्योतक है, अतः इस नाम से प्रकट है कि गणपति साक्षात् सृष्टि के लिए माया की प्रेरणा करनेवाले जगदाधार समस्तसत्ता के आधारभूत परमब्रह्म के ही अभिव्यक्त रूप हैं। 'मौद्गलपुराण' से इसकी पुष्टि होती है—

"एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वं समुद्भवम्।
भ्रान्तिदं मोहदं पूर्णं नानाखेलात्मकं किल॥
दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते।
बिम्बेन मोहयुक्तश्च स्वयं स्वानन्दगो भवेत्॥
माया भ्रान्तिमती प्रोक्ता सत्ता चालक उच्यते।
तयोर्योगे गणेशोऽयमेकदन्तः प्रकीर्तितः॥"

गणेश का एक दूसरा नाम 'वक्रतुण्ड' है। इससे भी ऊपर के सिद्धान्त की सिद्धि होती है। यह मनोवाणीमय जगत् सर्वजन-साधारण है। सब के लिए यह सम भाव से अनुभवगम्य है। परन्तु आत्मा इस जगत् से—सतत गमनशील वस्तु से—सर्वथा भिन्न है—पृथक् है—टेढ़ा है। अतएव यहाँ 'वक्र' शब्द से मनोवाणीहीन अविनश्वर, अपरिवर्तनशील चैतन्यात्मक आत्मा का बोध होता है। वही आत्मा गणेशजी का मुख है—मस्तक है। 'तत्त्वमसि' के साक्षाद् स्वरूपधारी गजानन के कण्ठ के नीचे का भाग जगत् है और ऊपर का अंश आत्मा है। अतः उन्हें 'वक्रतुण्ड' कहना नितान्त उपयुक्त है—

"कण्ठाधो मायया युक्तो मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्राख्यं तत्र विघ्नेश तेनायं वक्रतुण्डकः॥"

भगवान् गणेश की चार भुजाओं में चार हाथ हैं। इन भुजाओं के द्वारा आप भिन्न-भिन्न लोकों के जीवों की रक्षा अभयदान देकर किया

करते हैं। एक भुजा स्वर्ग के देवताओं की रक्षा करती है तो दूसरी इस पृथ्वी तल के मानवों की, तीसरी असुरों की तथा चौथी नागों की। इन भुजाओं में आपने भक्तों के कल्याण के लिए चार चीजें धारण कर रखी हैं—पाश, अङ्कुश, रद और वर। पाश मोहमय है। उसे आपने भक्तों के मोह हटाने के लिए ले रखा है। अङ्कुश का काम नियन्त्रण करना है। अतः वह उस व्यापार के लिए उपयुक्त है। दन्त दुष्टनाशकारक है। अतः वह सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। वर भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले ब्रह्म का रूप है। अतः गणेशजी ने सकल मानवों के कल्याण-साधन तथा विघ्नविनाशन के लिए अपने चारों हाथों में इन विभिन्न वस्तुओं को धारण कर रखा है। आदि में जगत् के स्रष्टा तथा अन्तकाल में सब विश्व को अपने उदर में वास कराने—प्रतिष्ठित कराने—वाले जगन्नियन्ता गणेश का 'लम्बोदर' होना उपयुक्त ही है।

गणेशजी 'शूर्पकर्ण' हैं—उनके कान सूप के तरह हैं। इस नाम से भी आपके उच्च परमात्मस्वरूप का परिचय हमें होता है। जब तक धान भूसे के साथ मिला रहता है वह बेकाम होता है, मैला बना रहता है। सूप से फटकने पर उसके असली रूप का पता चलता है, धान भूसे से अलग होकर चमकने लगता है—शुद्ध रूप को पा लेता है। इसी प्रकार ब्रह्म जीवरूप में माया के साथ मिलकर मलावरण से इतना आच्छन्न हो गया है कि उसका असली प्रकाशमय रूप बिल्कुल विस्मृत हो गया है—मालिन्य या तम का पटल इतना मोटा हो गया है कि चैतन्य का आभास भी नहीं हो रहा है। ऐसी अवस्था में सद्गुरु के मुख से निकला हुआ गणेश नाम मनुष्यों के कर्णकुहर में प्रवेश कर हृद्-गत होकर सूप के तरह पाप-पुण्य को अलग कर देता है—शूर्पकर्ण की उपासना माया को बिल्कुल हटाकर चैतन्यात्मक ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। अतः आपके 'शूर्पकर्ण' नाम की सार्थकता स्पष्टरूप से प्रतिपादित होती है—

"शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम् ।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः ॥"

गणेशजी 'मूषकवाहन'—'मूषकध्वज' हैं—उनका वाहन मूषक है। मूषक किस तत्व को द्योतित करता है, इस विषय में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। मूषक का काम वस्तु को कुत्तर डालना है। जो वस्तु सामने रखी जाय उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का वह विश्लेषण कर देता है। इस कार्य से वह मीमांसा करने के उपयुक्त वस्तुस्वरूपविश्लेषणकारिणी बुद्धि का प्रतिनिधि प्रतीत हो रहा है। गणेशजी बुद्धि के देवता हैं। अतः जिस तार्किक बुद्धि के द्वारा वस्तुतत्त्व का परिचय प्राप्त किया जाता है तथा उसके सार तथा असार अंश का पृथक्करण किया जाता है, जिसके द्वारा वस्तु के अन्तस्तल तक प्रवेश किया जाता है उसका गजानन का वाहन बनना अत्यन्त औचित्यपूर्ण है। दूसरी दिशा से विचार करने पर 'मूषक' ईश्वर तत्त्व का द्योतक भासमान होता है। ईश्वर अन्तर्यामी है, सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। सब प्राणियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये भोगों का वह भोग करता है परन्तु अहंकार के कारण मोहयुक्त प्राणी इसे नहीं जानता। वह तो अपने ही को भोक्ता समझता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्राणियों का प्रेरक अन्तर्यामी हृदयपद्म में निवास करने-वाला ईश्वर ही वास्तव में सब भोगों का भोक्ता है। इस अवस्था में मूषक की कार्यपद्धति उस पर खूब घटती है। मूषक भी घर के भीतर पैठ कर चीजें मूसा करता है, परन्तु घर के मालिक को इसकी तनिक भी खबर नहीं होती। इसलिए मूषक के रूप में ईश्वर की ओर सङ्केत है। पुराणों में गणेश की सेवा करने के लिए ईश्वर का मूषकरूप बन जाने की कथा भी मिलती है। उस परब्रह्म के सेवार्थ ईश्वर के वाहनरूप स्वीकार करने की कथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयुक्त है—

"ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः।
तदेवं मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः।

माथया गूढ़रूपः स भोगान् भुङ्क्ते हि चोरवत् ॥"

अतः गणपतिजी चिन्मय हैं, आनन्दमय हैं, ब्रह्ममय हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं। उन्हीं से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, उन्हीं के कारण इसकी स्थिति है और अन्त में उन्हीं में इस विश्व का लय हो जाता है। ऐसे परमात्मा का सकल कार्य के आरम्भ में स्मरण तथा पूजन करना अनुरूप ही है। एक बात और भी। गणेश की मूर्ति साक्षात् 'ॐ' सी प्रतीत होती है। मूर्ति पर दृष्टिपात करने से ही इसकी प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत शास्त्रों में भी गणेशजी ॐकारात्मक माने गये हैं। लिखा है कि शिव-पार्वती दोनों चित्रलिखित प्रास (ॐ) पर ध्यान से अपनी दृष्टि लगाकर देख रहे थे। अकस्मात् ॐकार की भित्ति को तोड़कर साक्षात् गजानन प्रकट हो गये। इसे देख शिव-पार्वती अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस पौराणिक कथा की सूचना—

"प्रत इन्द्र पूर्व्याणि प्रनूनं वीर्यावोचं प्रथमा कृतानि।
सतीतमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् ॥"

मन्त्र में बतलायी गयी है। प्रणव सब श्रुतियों के आदि में आविर्भूत माना जाता है। 'प्रणवश्छन्दसामिव।' अतः ॐकारात्मक होने के कारण गणपति का सब देवताओं से पहले पूजा पाना उचित ही है। गणेश के शिवपुत्र होने के विषय में भी एक पौराणिक कथा मिलती है। साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने शङ्कर की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके घर अवतार लिया था ऐसी कथा मिलती है। अतः गणपति के परब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप होने में तनिक भी सन्देह नहीं है।

२

भौतिक रूप

गणपति के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन पूर्व लेख में किया गया है। अब उनके आधिभौतिक स्वरूप का वर्णन इस लेख में

प्रस्तुत किया जा रहा है। गणपति के विषय में अनेक पुराणों में उल्लेख पाये जाते हैं। पुराणेतर सामग्री भी कम नहीं है। इन सब साधनों के आधार पर गणपति के भौतिक रूप का वर्णन भली भाँति किया जा सकता है। एक पाश्चात्य महिला श्रीमती ए० गेट्टी ने गणेश पर एक बड़ी सुन्दर तथा रोचक पुस्तक लिखी है, जो सन् १९३६ में 'आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस' से प्रकाशित हुई है। भारतीय दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं पर तब भी यह पुस्तक पठनीय है। गणेश की पूजा का प्रचार भारत के कोने कोने में तो है ही, साथ ही साथ बृहत्तर भारत—जावा, सुमात्रा, बाली, चीन, जापान आदि देशों में भी इसके प्रचलित होने के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं। स्थान की भिन्नता के कारण गणेश की मूर्तियों में भी भिन्नता मिलती है। भारत में गणेश का एक ही सिर मिलता है, पर नेपाल में हेरम्ब गणपति की मूर्तियों में पाँच सिर पाये जाते हैं; भारत में भी ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं, पर बहुत कम। गणेश एकदन्त हैं, पर दन्त की स्थिति में भी भिन्नता दीख पड़ती है। विशेषकर बाएँ ओर दन्तवाली मूर्तियों की बहुलता पायी जाती है, है, पर दाहिनी ओर तथा दोनों ओर दन्तवाली मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं। गणेश के साधारणतया दो ही नेत्र दिखलाये जाते हैं, पर तान्त्रिक पूजा में उनके तीन नेत्र पाये जाते हैं। गणेश की मूर्तियों में साधारणतया तिलक का विशेष विधान नहीं है, पर कहीं कहीं चन्द्रमा तिलक का काम करता है। हाथों की संख्या भी साधारण रीति से होती है, परन्तु तान्त्रिक पूजा में व्यवहृत होनेवाली मूर्तियों में भुजाओं की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इन हाथों में धारण की हुई वस्तुओं के विषय में भी मतभेद है।

यों तो गणेश का पूजन प्रत्येक आर्य सन्तान का करणीय विषय है, पर प्राचीन काल में गणपति का उपासक एक विशिष्ट सम्प्रदाय था जो 'गाणपत्य' के नाम से पुकारा जाता था। पेशवा लोग गणपति के

उपासक थे। इस कारण आजकल भी महाराष्ट्र में गणपति की प्रचुर उपासना पायी जाती है। 'गाणपत्य' सम्प्रदाय तान्त्रिक था, जिसमें भिन्न भिन्न गणपति की उपासना, फल की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न रूप में की जाती थी। गाणपत्यों में भी ६ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनकी उपासना-पद्धति में भिन्नता तथा विशिष्टता थी। वे भिन्न-भिन्न गणपतियों की पूजा किया करते थे। 'महागणपति' का रंग लाल तथा भुजाएँ दस होती हैं। 'ऊर्ध्व गणपति' तथा 'पिङ्गल गणपति' का रंग पीला तथा भुजाएँ ६ होती हैं। 'लक्ष्मी गणपति' का रंग श्वेत होता है, भुजाएँ चार या आठ। 'हरिद्रा गणपति' का रंग हल्दी जैसा पीला, भुजाएँ चार तथा नेत्र तीन होते हैं। 'उच्छिष्ट गणपति' का रंग लाल तथा भुजाएँ चार होती हैं। गाणपत्यों का पूजा प्रकार रहस्य-मय होता था, उसमें तान्त्रिक प्रकार की प्रधानता होती थी। ऊपर उल्लिखित सम्प्रदायों में महागणपति, हरिद्रा गणपति तथा उच्छिष्ट गणपति का प्रचार विशेष रूप से बतलाया जाता है। इनमें उच्छिष्ट गणपति की पूजा शाक्तों के वामाचार के ढंग की होती थी तथा स्वभावतः भयानक होती थी। आजकल इन सम्प्रदायों का एक प्रकार से अभाव सा हो गया है। पर आज भी स्थान-स्थान पर गाणपत्य लोग मिलते हैं। इनका कहना है कि 'गणपति ही सर्वप्रधान देवता हैं। उन्हीं से जगत् के सर्गादि कार्य सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन त्रिदेवों की उत्पत्ति गणपति से ही होती है। अतः सर्वमान्य देवता गणपति ही हैं।'

समस्त विघ्नों के सर्वथा नाश कर देने की शक्ति विनायकरूपी गणेश में विशेष रूप से विद्यमान है। इसीलिए गृहप्रवेश करते समय घर के दरवाजे पर विनायक की मूर्ति स्थापित की जाती है। किसी नगर के रक्षा का भार भी विनायक की कृपा पर छोड़ दिया जाता था। इस विषय में हमारी पवित्र पुरी काशी की रक्षा का प्रधान कार्य विनायक के

सुपुर्द किया गया मिलता है। 'काशीखण्ड' के अनुसार पञ्चक्रोशी सहित समस्त काशी सात वृत्तों में बाँटी गयी है, जिनका नाम है 'आवरण'। सबसे बड़ा प्रथम आवरण वर्तमान पञ्चक्रोशी में पड़ता है तथा अन्तिम आवरण विश्वनाथजी के मन्दिर की परिधि में सीमित है। प्रत्येक आवरण में रक्षक रूप से ८ विनायकों को स्थान दिया गया है। इस प्रकार समस्त आवरणों की रक्षा के निमित्त ५६ विनायकों की स्थिति मानी गयी है। प्रथम आवरण के आठ विनायक हैं—अर्क विनायक (लोलार्क कुंड के पास) दुर्ग विनायक, भीमचण्ड विनायक, देहली विनायक, उद्दण्ड विनायक, पाशपाणि विनायक, खर्व विनायक तथा सिद्धि विनायक (मणिकर्णिका घाट पर)। अर्थात् लोलार्क कुण्ड के पास के गंगा-तट से लेकर समस्त पञ्चकोशी को छोते हुए मणिकर्णिका घाट तक काशी का प्रथम आवरण है। अन्तिम आवरण विश्वनाथ मन्दिर के आसपास है, जिसमें मोद, प्रमोद, सुमुख, दुर्मुख, गणनाथ, ज्ञान, द्वार तथा अविमुक्त विनायक हैं। काशी के चारों ओर इन आवरणों की कल्पना नितान्त महत्त्वपूर्ण है। पर इन विनायकों के अतिरिक्त अन्य गणपतियों की भी स्थिति तथा मान्यता है—यथा दुग्ध, दधि, शर्करा, मधु तथा घृत विनायक (पञ्चगंगा के पास दूधविनायक महल्ले में), साक्षी विनायक तथा वक्र-तुण्ड विनायक (जो बड़े गणेश के नाम से विख्यात हैं)। हमारा विश्वास है कि इस विश्वनाथ-नगरी में जितने विनायकों की स्थिति है उतनी अन्य नगरी में नहीं है। इस छप्पन विनायकों के नाम तथा स्थान के वर्णन के लिए 'वाराणसीआदर्श' तथा 'काशीयात्रा' का अवलोकन करना चाहिए।

वैदिक धर्म में गणपति का माहात्म्य तो है ही, पर बौद्धधर्म में भी इनकी महिमा कम नहीं है। महायान के तान्त्रिक सम्प्रदायों ने विनायक की कल्पना को ग्रहण कर उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। बुद्ध का एक नाम 'विनायक' भी है। पिछली शताब्दियों में बुद्ध की कल्पना

विनायक रूप से मिलती है तथा 'वज्रधातु' और 'गर्भधातु' के रूप में भी विनायक की पूजा का विपुल प्रचार दृष्टिगत होता है। नेपाल में बौद्धधर्म के साथ-साथ गणपति की पूजा भी चलती है। वहाँ से खोतान, चीनी तुर्किस्तान तथा तिब्बत में भी गणेश की उपासना का प्रचार हुआ। इन देशों में विनायक की नृत्यशालिनी मूर्ति (नृत्य गणपति) का प्रचुर प्रचार है। हेरम्ब विनायक के नाम से भी इनकी स्थिति नेपाल में है। हेरम्ब की बड़ी विशेषता यह है कि उनके पाँच मुख होते हैं तथा मूषक के स्थान पर सिंह ही उनका वाहन है। इन पाँच मुखों का क्रम भी बड़ा विलक्षण रहता है। कभी चारों दिशाओं में चार मुख होते हैं और ऊपर बीच में एक मुख, कभी तीन ही मुख एक पंक्ति में और एक के ऊपर एक रूप से दो मुख होते हैं। तिब्बत में प्रत्येक मठ के अधि-रक्षक देवता के रूप में गणपति की पुजा आज भी प्रचलित है। हिन्दू लोगों ने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश बनाये थे, इसका पता इतिहास दे रहा है। जहाँ ये लोग धर्मप्रचारक के रूप में या व्यापारी के रूप में बस गये, वहाँ ये अपने साथ भारत से अपनी सभ्यता भी लेते गये, अपने देवता तथा उनकी भारतीय पद्धति को अपने साथ ले जाना नहीं भूले। फलतः गणपति की मूर्ति विघ्नराज के रूप में बृहत्तर भारत के समग्र देशों में आज भी पायी जाती है। इन देशों में गणपति के नाम भी भिन्न भिन्न हैं। गेट्टी ने इन नामों की तालिका अपने ग्रन्थ में दी है। गणपति का तामिल में नाम है 'पिल्लैयर', भोट भाषा में 'सोग्स-दाग', बर्मी में 'महा-पियेन्ने', मंगोलियन में 'त्वोतखारून खागान', कम्बोडियन में 'प्राह केनीज', चीनी भाषा में 'कुआन-शी-तिएन', जापानी में 'काङ्गी-तेन'। भारत के समीपस्थ उपनिवेश बर्मा तथा श्याम में गणपति का प्रवेश बहुत पहले हुआ। इन देशों में गणेश की कांसे की बनी मूर्तियाँ बड़ी लोक-प्रिय हैं। कम्बोडिया (कम्बोज—इन्डो चीन) में गणपति की मूर्तियों में स्थानीय ख्मेर कला के कारण विशेष परिवर्तन

पाया जाता है। चतुर्मुख मूर्तियाँ यहाँ मिलती हैं और अधिकतर ये खड़े होने की मुद्रा में दिखलायी जाती हैं। जावा में हिन्दू-धर्म का प्रवेश प्राचीनकाल में ही हो गया था। पञ्चम शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान को जावा में ब्राह्मण तथा बौद्ध श्रमण मिले थे। जावा में गणपति के स्वतन्त्र मन्दिर नहीं मिलते, पर शिवमन्दिर में ही इनकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। इन मूर्तियों की एक विशेषता है कि शिव के समान गणेश को भी मुण्डमाल पहनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया है। बोर्निओ तथा बालीद्वीप में भी गणपति का विशेष प्रचार है।

चीन तथा जापान में गणेश का प्रवेश पाना आपाततः आश्चर्यजनक माना जा सकता है, पर विचार करने पर यह प्रवेश स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। महायान बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ गणपति ने भी इन देशों में प्रवेश पा लिया। चीन में गणेश का प्रवेश या तो चीनी तुर्किस्तान या नेपाल—तिब्बत के रास्ते से हुआ होगा। चीन में गणेश की मूर्ति दो नाम तथा रूप से विख्यात है—'विनायक' (बौद्धसम्मत मूर्ति) तथा 'काङ्गी-तेन' (गणेश की युगल मूर्ति)। काङ्गि-तेन मूर्ति बड़ी विलक्षण है। वह इन पूरबी प्रदेशों की अपनी खास कल्पना का परिणाम है। चीन देश के तान्त्रिक बौद्धधर्म ने विनायक का ग्रहण बड़ी जल्दी कर लिया तथा अपने देवताओं में इन्हें बड़ा आसन दिया। विनायक बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के ही प्रतिरूप माने जाते हैं। वज्र-धातु की कल्पना में विनायक का विशेष प्रभाव है। नवमी शताब्दी के बाद जापान में गजानन जी विराजने लगे। कोबो-दाइशी नामक विद्वान् ने चीनदेशीय बौद्धाचार्यों से दीक्षा लेकर विनायक का जापान में प्रवेश कराया और स्थानीय प्रसिद्ध शिंगोन सम्प्रदाय ने इन्हें अपना लिया। शिंगोन मत तान्त्रिक मत है। अतः उसने रहस्यमयी काङ्गी-तेन मूर्तियों का विशेष प्रचार किया। यह गजानन की युगल मूर्ति है, जिसमें दोनों मूर्तियों की पीठ एक साथ लगी हुई तथा मुँह दो दिशाओं की ओर हैं।

जापानी बौद्ध इन मूर्तियों को रहस्यमय तथा शक्ति और शक्तिमान् की एकता का प्रतिपादक बतलाते हैं। सुदूर अमरीका में भी लम्बोदर की मूर्ति मिली है। आकृति वही लम्बा तुन्दिल शरीर, ऊपर हाथी का, इधर-उधर दोलायमान शुण्डादण्ड। इन मूर्तियों का श्रीचम्मनलाल ने 'हिन्दू अमरीका' नामक अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। इन मूर्तियों की कल्पना से प्रतीत होता है कि भारतीयों ने कभी अमरीका में भी अपने उपनिवेश बसाये थे।

इस प्रकार गणेशजी की पूजा उत्तरी मंगोलिया से लेकर दक्षिणी बाली तक तथा भारत से लेकर अमरीका तक कम या अधिक अंश में भिन्न भिन्न शताब्दियों में प्रचलित थी। मङ्गल के अवसर पर गणपति का पूजन करनेवाले कितने हिन्दू इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित हैं तथा भारतीय सभ्यता के प्रचार में गणपति-पूजा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं?

वैष्णव धर्म

(४) भागवत धर्म

१

उदय

भारतवर्ष एक धर्म-प्रधान देश है। हिन्दुओं को तो धर्म प्राण से भी प्यारा है। इनकी सतत यही धारणा रहती है कि धर्म रहे बल्कि प्राण चले जांय। धर्म के लिये प्राण देना हिन्दुओं ही की विशेषता है। इस देश ने अनेक धर्मध्वंसी तथा आततायी विधर्मियों को देखा, परन्तु उनके निरंतर उद्योग से भी हिन्दू धर्म की क्षति न हो सकी। यहाँ यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि वैदिक काल से ही विष्णु की पूजा चली आ रही है, परन्तु उस समय इसे विशेषता प्राप्त नहीं थी। महाभारत काल में इसे प्रधानता प्राप्त हुई और उसी काल के नारायणीय धर्म को भागवत धर्म के नाम से पुकारा जाता है। भागवत धर्म शरणागति तथा प्रपत्ति का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

आधुनिक काल में विष्णु की पूजा बहुत विस्तृत है। वैष्णव धर्म भारत के धार्मिक इतिहास में प्रधान स्थान रखता है। वैदिक काल में देवतागण में विष्णु का भी नाम है, परन्तु इनको कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था और न इनकी विशेष पूजा ही का वर्णन मिलता है। विष्णु चौथे श्रेणी के देवता थे। सूर्य से कम ही इनका आवाहन किया जाता है। विष्णु का विशिष्ट कार्य है तीन डगों में पृथ्वी को माप लेना। इसी कारण उनका नाम 'त्रिविक्रम' 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' है। विश्व में सतत उद्योगशील सूर्य को ही 'विष्णु' का नाम दिया गया है।

ऋग्वेद में पाँच छः सूक्त ही विष्णु की स्तुति के विषय में हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में सब देवताओं में विष्णु के सर्वश्रेष्ठ होने का वर्णन मिलता है—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः।

इससे ज्ञात होता है कि शनैः शनैः ब्राह्मण-काल में विष्णु पूजा की प्रधानता होने लगी।

उपनिषद् काल में दो विचार धाराएँ प्रवाहित थीं। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में केवल 'ब्रह्मन्' का विचार ही सर्वोपरि था। विष्णु की ब्रह्मन् से समानता नहीं बतलाई गयी है। कठोपनिषद् (१, ३, ९) में विष्णु के लिये 'तत् विष्णोः परमं पदम्' का वर्णन मिलता है। उस समय से विष्णु की प्रधानता बढ़ती ही गयी और उनको त्रिमूर्ति में (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश में) स्थान प्राप्त हो गया। मैत्रायिणी में तो त्रिमूर्ति का भाव अंतिम रूप को पहुँचा हुआ पाया जाता है। यदि ऐतिहासिक रूप से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि विष्णु को कम से कम ईसा के १००० वर्ष पहले हिन्दू देवताओं में प्रधान स्थान प्राप्त हो गया था तथा इनकी पूजा प्रचलित हो गयी थी।

धार्मिक पूजा के साथ-साथ भक्ति की उत्पत्ति तथा वृद्धि दिखलाई पड़ती है। जब पुजारियों की श्रद्धा विष्णु के प्रति बढ़ने लगी तभी से भक्ति की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। अपने पूर्व पुरुषों, गुरुजनों तथा पूज्यों के मार्गों का अनुगामी होने से भक्ति उत्पन्न होती है। ऋषियों ने यहाँ तक कहा है कि जिसमें भक्ति न हो उसे शिक्षा नहीं देनी चाहिये। कठोपनिषद् के वर्णन से ज्ञात होता है कि जिसमें देवता तथा गुरु के प्रति भक्ति होती है उसी को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है।

यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

भक्ति का तात्पर्य किसी एक व्यक्ति के प्रति ध्यान तथा प्रेम लगाने से है। उसीके लिये अपने को उत्सर्ग कर दे। संजय ने कहा है—

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम् ।
(महा० आ० ५।९९।४)

भक्त प्रपन्न है और पूज्य के प्रसाद के लिये उसकी शरण में जाता है। भगवान् कृष्ण ने कहा भी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८।६६)

पाणिनि के समय में भी विष्णुपूजा का प्रचुर प्रचार था। अष्टाध्यायी में 'वासुदेवार्जुनाभ्यां' (४।३।९८) के आधार पर वासुदेव पूजा की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। अतएव इसी आधार पर ई० पूर्व ६०० में वासुदेव (विष्णु) पूजा का प्रचार प्रकट होता है।

महाभारत काल में विष्णु की पूजा कृष्ण तथा नारायण के रूप में होने लगी। इसी नारायणीय पूजा को 'भागवतधर्म' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यों तो विष्णु की पूजा वैदिक काल से चली आती थी परन्तु महाभारत काल में ही इसको 'भागवतधर्म' का नाम दिया गया। भागवतधर्म का ही विवेचन पूर्णरूप से गीता में मिलता है। भक्ति-विषय में गीता ही सबसे प्रथम और प्राचीन पुस्तक है। भगवान् कृष्ण के उपदेशों से भक्ति का स्थान तथा विधान का परिचय मिलता है। स्वयं भगवान् के कथित उपदेशों के अतिरिक्त भक्ति का अधिक विवेचन मिलना कठिन है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(गीता ९।२९)

'बौद्धकाल' में बुद्धदेव ने अपने नये धर्म का प्रचार किया और हिन्दू धर्म के मूलभूत वेदों की प्रधानता नहीं मानी। बुद्ध ने इसका

'मज्झिम मार्ग' के नाम से प्रचार किया। इस युग में यद्यपि बौद्धधर्म की प्रधानता थी, तथापि हिन्दू धर्म (भागवतधर्म) के भी अनुयायी वर्तमान थे। ई० पूर्व चौथी शताब्दी में ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ ने वर्णन किया है कि वासुदेव की पूजा शूरसेन लोगों के द्वारा मथुरा के समीप होती थी। मौर्यकाल के अनन्तर शुंग नरेशों ने हिन्दूधर्म को अपनाया तथा प्राचीन वैदिक प्रणाली पर यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय (ई० पूर्व दूसरी शताब्दी) में पतंजलि का आविर्भाव हुआ। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च' (४।१।११४) सूत्र पर भाष्य लिखते हुए वासुदेव का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि वृष्णि लोग वासुदेव की पूजा करते थे। इन वृष्णि लोगों को महाभारत में 'सात्वत' लिखा है। अतएव सात्वत लोगों के नारायणीय धर्म (भागवतधर्म) तथा पतंजलि द्वारा उल्लिखित वासुदेव पूजा में कोई विभिन्नता नहीं है।

ई० पूर्व दूसरी शताब्दी में प्राप्त लेखों से साहित्यिक प्रमाण की पुष्टि होती है। वह लेख मध्य भारत के बेसनगर स्थान में मिला है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि तक्षशिला का राजदूत 'हेलियोडोरस' विदिशा के राजा काशी पुत्र 'भागभद्र' की सभा में आया था। वहाँ पर उसने गरुड़ स्तम्भ स्थापित किया था। इस स्तम्भ के लेख से न केवल भागवत धर्म की प्रधानता ही ज्ञात होती है प्रत्युत इसका प्रभाव अन्य धर्मावलम्बियों पर भी स्पष्ट प्रगट होता है। इस प्रकार साहित्यिक तथा लेख के प्रमाण पर ईसा से कई सदी पूर्व से ही भागवत धर्म के प्रचुर प्रचार की सूचना मिलती है। इसके बाद चार सौ वर्षों तक कोई भी लेख या कला का नमूना नहीं प्राप्त है जिससे वैष्णव धर्म के प्रचार की सूचना मिले। परन्तु चौथी शताब्दी से, गुप्तों के उत्थान से आरम्भ कर भागवतधर्म का प्रचार आधुनिक काल तक निर्विघ्न चला आया है।

२

विकास

भक्ति भाव के साथ ही भारतवर्ष में मूर्ति विद्या का आविर्भाव हुआ। प्राचीन काल में धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ ही बनती थीं। मूर्तिकार जिस धर्म के अनुयायी होते थे वैसी ही मूर्त्ति बनाते थे। भक्ति मार्गकी प्रधानता के कारण विष्णु की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। विष्णु भगवान् की मूर्ति कब से बननी प्रारम्भ हुई? इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु घसुन्डी और नगरी के लेखों में ई० पूर्व ३००-१०० तक वासुदेव की पूजा के लिये शिलाप्राकार का उल्लेख है। इसके पहिले मूर्ति का उल्लेख शिलालेखों में नहीं मिलता। ईसा की प्रथम शताब्दी में भी भक्ति की धारा अच्छी प्रकार से प्रवाहित प्रतीत होती है। इसी के प्रभाव से बुद्ध-धर्म में महायान पंथ का उदय हुआ। गंधार के तक्षणकला में तो केवल बौद्ध मूर्तियाँ ही तैयार हुईं, परन्तु गुप्त काल में हिन्दू मूर्तियाँ प्रधानतया निर्मित होने लगीं। चौथी तथा पाँचवीं शताब्दी में शासन करने वाले गुप्त सम्राट्—चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त और स्कन्द गुप्त-'परम भागवत' की पदवी से विभूषित थे। इससे ज्ञात होता है कि वे भागवतधर्म के अनुयायी थे। गुप्त सम्राटों के सिक्कों[1] तथा लेखों[2] में 'परमभागवत' की पदवी बहुधा उल्लिखित है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के गुहा में (ई० स० ४००) चतुर्भुजी मूर्ति मिली है जो सम्भवतः विष्णु की है। स्कन्दगुप्त के भीतरी के लेख (जि० गाजीपुर) से ज्ञात होता है कि गुप्त सम्राट् ने भगवान्

---

१ गुप्तों के सौराष्ट्र के चाँदी के सिक्कोंपर नामोंके पहले परमभागवत की उपाधि मिलती है तथा सोने के सिक्कों पर गरुडध्वज अंकित है।

२ 'परमभागवत तो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य-परमभागवत तो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य। भतरी का लेख, गुप्त लेख १२

शार्ङ्गिण् की मूर्ति की स्थापना की थी[1]। शार्ङ्गिण् भगवान् वासुदेव हैं। ई० स० ४५६ में सौराष्ट्र के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने भगवान् विष्णु का मन्दिर बनवाया था[2]। गुप्त काल में भगवान् विष्णु के अवतार (वराह) की भी पूजा होती थी तथा उनके निमित्त मन्दिर बनवाए गए थे। गुप्त काल में एरण (जि० सागर सी० पी०) में एक लेख मिला है[3] जिसमें मातृविष्णु तथा धान्यविष्णु के द्वारा भगवान् जनार्दन (वासुदेव-कृष्ण) के ध्वज स्तम्भ की स्थापना का वर्णन मिलता है। इस प्रकार गुप्त काल के अनेक लेख प्राप्त हैं जो कि भागवतधर्म के प्रचुर प्रचार के सूचक हैं।

विष्णु की मूर्तियाँ पहले चतुर्भुज होती थीं या द्विभुज ? इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता। पाँचवीं शताब्दी से पूर्व की बनी हुई विष्णु की मूर्ति कोई अभी तक नहीं मिली है। सम्भवतः पहले विष्णु की मूर्ति द्विभुज थी परन्तु बुद्ध को अवतार मान लेने पर बौद्धों के तरह हिन्दुओं ने भी बुद्ध की चतुर्भुजी मूर्ति बनाना शुरू किया। इसी का अनुसरण कर विष्णु भगवान् की भी मूर्ति चतुर्भुजी बनाई जाने लगी। सारनाथ म्यूजियम में गोवर्धन पर्वत उठाते हुए भगवान् कृष्ण की चतुर्भुजी मूर्ति है जो सम्भवतः छठीं शताब्दी की मानी जाती है। इसी शताब्दी की कृष्ण-जीवन सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ पहाड़पुर (राजशाही, बंगाल) में मिली हैं। इसमें एक मूर्ति राधाकृष्ण की भी है। विष्णु के दश अवतार की कल्पना के साथ इन सब अवतारों की मूर्तियाँ बनने लगीं। इलोरा

---

१ कर्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमा तस्य शार्ङ्गिणः (गु० ले० न० १३)

२ दामोदर खुर का ताम्रपत्र नं० ४–५ (ई० इ० जि० १५)

३ महाराज मातृविष्णुना तस्यैवानुजेन तदनुविधायिना तत्प्रसाद परिगृहीतेन धान्यविष्णुना च मातृपित्राः पुण्यप्यायनार्थं मेष भगवतः पुण्य जनार्दनस्य ध्वज स्तम्भोऽभ्युच्छ्रितः। गु० ले० नं० १९

के गुहा में दशावतार के सुन्दर चित्र दिखाई पड़ते हैं। भिन्न भिन्न मूर्तियों के बनने के प्रवाह में भगवान् विष्णु की आठ, चौदह तथा चौबीस हाथों वाली भी मूर्तियाँ प्राप्त हैं जो दक्षिण के मामलपुर तथा अजमेर के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। उन हाथों में भिन्न भिन्न प्रकार के आयुध दिए गए हैं। उसी संग्रहालय में विष्णु की तीन मुख वाली भी मूर्ति सुरक्षित है। इसमें मध्य में विष्णु तथा दोनों ओर क्रमशः वराह और नृसिंह की मूर्तियाँ ज्ञात होती हैं। दशवीं शताब्दी में बुन्देलखण्ड में विष्णु पूजा का प्रचुर प्रचार था। चन्देल राजाओं के समय में बहुत से विष्णु के मन्दिर बने जो आज भी खजुराहो में वर्तमान हैं।

दक्षिण भारत में विष्णु की पूजा बहुत पीछे प्रचलित हुई। दक्षिण में भागवत सम्प्रदाय का प्रचार नवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, और उधर के आळवार (वैष्णव सन्त) कृष्ण के परम भक्त थे। डा० कृष्ण-स्वामी विष्णुपूजा का प्रचार दक्षिण में छठीं शताब्दी में मानते हैं। उनके कथनानुसार दक्षिण के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय विष्णु का उपासक था। इसने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से विवाह किया था। बहुत सम्भव है कि गुप्तों के संसर्ग से छठीं शताब्दी में भागवत धर्म का प्रचार दक्षिण में हुआ हो। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी तक विष्णु की पूजा कृष्ण के रूप में होती थी। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राम के विष्णु के अवतार होते हुए भी उनके मन्दिरों तथा मूर्तियों का प्राचीन काल में कहीं पता नहीं लगता। कृष्ण के समान राम की भक्ति प्राचीन काल में रही हो, इसमें सन्देह है। इलोरा के कैलास में रामलीला का चित्र पत्थर पर खुदा हुआ मिला है। आठवीं शताब्दी में शंकर के अद्वैतवाद से भक्तिमार्ग को गहरा धक्का लगा परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रचार किया तथा शंकर के मत का खण्डन किया।

उन्होंने मैसूर के राजा विष्णुवर्धन को वैष्णव बनाकर दक्षिण में भक्ति का प्रचुर प्रचार किया।

इस प्रकार विष्णुपूजा वैदिक काल से प्रचलित होने पर भी महाभारत काल में ही सर्वोत्तम स्थान को प्राप्त हुई। उसी समय से नारायणीय पूजा को भागवतधर्म के नाम से पुकारा जाता है जो आज तक प्रचलित है। ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी से भागवतधर्म का साक्षात्कार मन्दिरों तथा मूर्तियों द्वारा भी प्रारम्भ हो गया। इसका निर्विघ्न विकास आधुनिक काल तक सारे भारत में असंख्य मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण से दृष्टिगोचर होता है।

३

भागवती साधना

श्रीमद्भागवत संस्कृत-धार्मिक-ग्रन्थोंमें एक अनुपम स्थान रखता है। उसके समान अन्य ग्रन्थ मिलना बिल्कुल असम्भव-सा है—वह ग्रन्थ जिसमें पाण्डित्य तथा कवित्व दोनों का मणिकाञ्चन योग हो, सिवा इस ग्रन्थरत्न के हमारे लिये सुलभ नहीं है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इस सुप्रसिद्ध लोकोक्ति से ग्रन्थ की दुरूहता का परिचय भी पर्याप्तमात्रा में प्राप्त हो सकता है। अतः भागवत में किस साधना-पद्धति का किस प्रकार से उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवत के पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूप से कर सकते हैं; परन्तु फिर भी अपनी बुद्धि से इस विषय का एक छोटा-सा वर्णन पाठकों के सामने इस आशा से प्रस्तुत किया जाता है कि अधिकारी विद्वान् इसका यथातथ्य विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करें।

हमारे देखने में भागवती साधना का कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्ध के आरम्भ में तथा तृतीय स्कन्ध के कपिलगीता वाले अध्यायों में किया गया मिलता है। कपिल की माता देवहूति के सामने भी यही

प्रश्न था कि भगवान के पाने का सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्न को उन्होंने अपने पुत्र कपिलजी से किया, जिसके उत्तर में उन्होंने अपनी माता की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षित को। उन्होंने ब्राह्मण का अपमान किया था; सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। बस, इतने ही स्वल्पकाल में उन्हें अपना कल्याण-साधन करना था। बेचारे बड़े विकल थे, बिलकुल बेचैन थे। उनके भाग्य से उन्हें उपदेष्टा मिल गये शुकदेव-जैसे ब्रह्मज्ञानी। 'अतः उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महाराज, इतने कम समय मे क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधक की खोज में थे। उन्हें ऐसे साधक के मिलने पर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेवजी ने परीक्षित से कहा कि भगवान् से परोक्ष रह कर बहुत से वर्षों से क्या लाभ है? भगवान् से विमुख रह कर दीर्घ जीवन पाने से भला, कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान् के स्वरूप को जान कर उनकी सन्निधि में एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवन का उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुण-कीर्तन में है। यदि यह सिद्ध न हो सके, तो पृथ्वीतल पर दीर्घ जीवन भी भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षि ने इस जीवन की असारता को जान कर अपने सर्वस्व को छोड़ कर समस्त भयों को दूर करने वाले अभय हरि को प्राप्त किया। तुम्हें तो अभी सात दिन जीना है। इतने काल में तो बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिका के अनन्तर शुकदेवजी ने भगवती भागीरथी के तीर पर सर्वस्व छोड़ कर बैठने वाले राजा परीक्षित से भागवती साधना का विस्तृत वर्णन किया। अष्टांग योग की आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्ग में है। इस भक्तिमार्ग में भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होंने कहा कि साधक को चाहिये कि किसी एक आसन से बैठने का अभ्यास

करके उस आसन पर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणों का पूरा आयमन करे। संसार के किसी भी पदार्थ में आसक्ति न रक्खे। अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना हो जाने पर साधक का मन उस अवस्था में पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मन को जिस स्थान पर लगावेगा, उस स्थान पर वह निश्चयरूप से टिक सकेगा। तभी भगवान् के स्थूल रूप का ध्यान करना चाहिये। भगवान् के विराट् रूप का ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान् का रूप है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः'। इस जगत् के चौदहों लोकों में भगवान् की स्थिति है। पाताल भगवान् का पादमूल है, रसातल पैर का पिछला भाग है, महातल पैर की एड़ी है, तलातल दोनों जङ्घाएँ हैं, सुतल जानुप्रदेश है और दोनों ऊरु वितल तथा अतल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीर के अधोभाग के रूप से है। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपर के भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान् का मस्तक है। इस जगह पर भागवतकार ने भगवान् के विराट् रूप का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। जगत् की जितनी चीजें हैं, वे सब भगवान् का कोई-न-कोई अंग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान् का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अंगों का भगवान् के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान् का स्थविष्ठ—स्थूलतम स्वरूप। साधक को चाहिये कि इस रूप में इस प्रकार अपना मन लगावे, वह अपने स्थान से किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जब तक भगवान् में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तब तक इस स्थूल रूप का ध्यान नियत रूप से साधक को अपनी नित्यक्रियाओं के अन्त में करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधना को श्रेष्ठ समझ कर इसी का उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाश में भगवान् के स्वरूप

का ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे इसी का उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राण पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक को चाहिये कि अपने हृदय में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान् के पाद से और अन्त करे भगवान् के होठों की मृदुल मधुर मुसुकान से। 'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचे से आरम्भ कर ऊपर के अङ्गों तक जाय और एक अङ्ग का ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्ग की ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूप का ध्यान दृढ़ रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह के ध्यान का विशद वर्णन तृतीय स्कन्ध के २८ वें अध्याय में किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणि के पैर से ध्यान करना आरम्भ करे। श्री भगवान् के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल के चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभा से मनुष्यों के हृदय का अन्धकार आप-से-आप दूर हो जाता है। श्रीभागीरथी का उद्गम इन्हीं से हुआ है। ऐसे चरणों में चित्त को पहले लगावे। जब यह वहाँ स्थिररूप से स्थित होने लगे, तब दोनों जानुओं के ध्यान में चित्त को रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बर से शोभित होनेवाले ओज के निधान भगवान् की जङ्घाओं पर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजी के उत्पत्तिस्थानभूत कमल की उत्पत्ति जिससे हुई है, उस नाभि का ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदि का ध्यान करता हुआ भगवान् के मुखारविन्द तक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तल से परिवेष्टित, उन्नत भ्रू से सुशोभित, मीन की भाँति चपल नयनों पर अपनी चित्त-वृत्ति लगावे। मनुष्यों के कल्याण के लिये अवतार धारण करने वाले भगवान् के कृपा-रस से सिक्त, तापत्रय-नाशिनी चितवन को अपने ध्यान का विषय बनावे। अन्त में भगवान् के होठों पर विकसित होने वाली मन्द मुसुकान में अपना

चित्त लगा कर बस, वहीं दृढ़ धारणा से टिक जाय। वहाँ से टले नहीं। वही अन्तिम स्थान ध्यान का हुआ। पर इस स्थान पर निश्चित रूप से स्थित होने का प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जब तक हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति का सञ्चार न होगा, तब तक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होंगे। अष्टांग योग भी तो बिना भक्ति के छूछा ही है—नीरस ही है। भक्ति होने पर ही तो भक्त का प्रत्येक कार्य भगवान् की पूजा का अङ्ग हो जाता है, अतः इस भक्ति का पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकार को पूर्वोक्त प्रकार की ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तों के चरित में इसी प्रकार की साधना का उपयोग किया गया मिलता है।

(५) श्रीकृष्ण और सुदामा

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

आनन्दकन्द वृन्दावन-चन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण का पवित्र चरित्र सब भावों से परिपूर्ण है। जिस दृष्टि से उसे देखा जाय उसीसे वह पूरा दीखता है, जिस कसौटी पर उसे कसा जाय वह पूरा उतरता है। वह वृन्दावन-विहारी मुरलीधारी वनवारी किस रस का आश्रय नहीं है, किस भाव का पात्र नहीं है? वह स्नेहमूर्ति कन्हैया प्रेम का अगाध समुद्र है, सख्य का अनन्त सागर है। आज हम अपने प्रेमी पाठकों के सामने उसकी एक सुन्दर लीला की थोड़ी-सी झाँकी कराना चाहते हैं।

भगवान् की अनन्त लीलाओं में सुदामा का प्रसङ्ग भी अपनी एक

चित्रण लोकोत्तर आनन्द लिये हुए है। पुराने सहपाठी सुदामा की दरिद्र दीन-दशा को देख भगवान् के हृदय में करुण रस का जो अथाह समुद्र उमड़ पड़ा, उसका तो ठिकाना कहना क्या, भगवान् कृष्णचन्द्र के उदात्त चरित्र में यह भक्तों के लिये परम पावन वस्तु है—दुःखी आत्माओं को शान्ति देनेवाली यह एक अति अनुपम कथा है।

सुदामा की कथा

सुदामा एक अत्यन्त दीन ब्राह्मण थे। बाल्यावस्था में उन्हीं गुरु के पास विद्याध्ययन करने गये थे जहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने बड़े भाई बलरामजी के साथ शिक्षा ग्रहण करने के लिये गये थे। वहीं श्रीकृष्णचन्द्र के साथ इनका खूब सख्य रहा। इन्होंने गुरुजी की बड़ी सेवा की। गुरुपत्नी की आज्ञा से एक बार सुदामा कृष्णचन्द्र के साथ जंगल से लकड़ी लाने गये। जंगल में जाना था कि आँधी-पानी आ गया। अन्धकार इतना सघन हो गया कि अपना हाथ अपनी आँखों नहीं दीखता था। रात भर वे लोग उस अन्धेरी रात में वन में भटकते रहे परन्तु रास्ता मिला ही नहीं। प्रातःकाल सदय-हृदय सान्दीपनि गुरु इन्हें खोजते जंगल में आये और घर लिवा ले गये।

गुरुगृह से लौटने पर सुदामा ने एक सती ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया। सुदामा की पत्नी थी बड़ी पतिव्रता—अनुपम साध्वी। उसे किसी बात का कष्ट न था, चिन्ता न थी, यदि थी तो केवल अपने पतिदेव की दरिद्रता की। वह जानती थी भगवान् श्रीकृष्ण उसके पति के प्राचीन सखा हैं—गुरुकुल के सहाध्यायी हैं। वह सुदामाजी को इसकी समय-समय पर चेतावनी भी दिया करती थी, परन्तु सुदामाजी इसे तनिक भी कान नहीं करते—कभी ध्यान नहीं देते थे। एक बार उस पतिव्रता ने सुदामाजी से बड़ा आग्रह किया कि आप द्वारकाजी में [illegible] ो से मिलिये, [illegible] । भगवान् कृपासागर

हैं, हमारा दुःख अवश्य दूर करेंगे। ज़रा हमारी इस दीन-हीन दशा की खबर अपने प्यारे सखा कृष्ण को ता देना—'या घरते न गयो कबहूँ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती'। सुदामा जी केवल भाग्य को भरपेट कोसा करते थे—केवल कहा करते थे कि—

पावैं कहाँ ते अटारी अटा जिनको है लिखी विधि टूटिय छानी।
जो पै दरिद्र ललाट लिखो कहु को त्यहि मेटि सकैगो अयानी॥

परन्तु इस बार उस साध्वी के सच्चे हृदय से निकली प्रार्थना काम कर गयी। सुदामा जी द्वारकाधीश के पास जाने के लिये तैयार हो गये। उपायन के तौर पर इधर-उधर से माँग कर पत्नी ने चावल की पोटली पतिदेव के हवाले की। सुदामा जी पोटली को बगल में दबाये द्वारका के लिये रवाना हुए परन्तु बड़े अचम्भे की बात यह हुई कि जो द्वारका सुदामा की कुटिया से कोसों दूर थी वह सामने दीखने लगी—उसके सुवर्ण-जटित प्रासाद आँखों को चकाचौंध करने लगे। झट से सुदामा जी द्वारका पहुँच गये।

पूछते-पूछते भगवान् के द्वारे पहुँचे। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। भगवान् के दरबार में भला दीन-दुखी को कौन रोक सकता है? द्वारपाल झट से श्रीकृष्ण के पास सुदामा जी के आगमन की सूचना नरोत्तमदासजी के शब्दों में यों देने गया—

शीश पगा न झँगा तन में प्रभु जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रहो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूँछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् ने अपने पुराने मित्र को पहचान लिया। वे स्वयं आकर महल में लिवा ले गये। रत्नजटित सिंहासन पर बैठाया, अपने हाथों से उनका पाँव पखारा, प्राचीन विद्यार्थी-जीवन की स्मृति दिलायी और भक्ति के साथ लाये हुए भाभी के द्वारा अर्पित चावलों की एक मुट्ठी

अपने मुँह में डाली, दूसरी मुट्ठी के समय रुक्मिणी ने उन्हें रोक दिया। सुदामा भगवान् के महल में कई दिनों तक सुख-पूर्वक रहे; श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से उन्हें विदा किया। सुदामा रास्ते में चले जाते थे और मन-ही-मन कृष्ण की बद्धमुष्टिता पर खीझते थे। जब अपने घर पहुँचे तो उन्हें अपनी टूटी मड़ैया नहीं दीख पड़ी। उसके स्थान पर एक विशालकाय प्रासाद खड़ा पाया। पत्नी ने पति को पहचाना। जब वे महल के भीतर गये तब अपना ऐश्वर्य देख मुग्ध हो गये और भगवान् की दानशीलता और भक्तवत्सलताका अवलोकन कर अवाक् हो रहे। बहुत दिनों तक अपनी साध्वी पत्नी के साथ सुख-पूर्वक दिन बिता अन्त में भगवान् के चिरन्तन सुखमय लोक में चले गये।

सुदामा की भक्त-मनोहारिणी कथा संक्षेप में यही है जो ऊपर दी गयी है। भगवान् की दयालुता का यह परम सुन्दर निदर्शन है। यह कथा वास्तव में सच्ची है। साथ-ही-साथ यह एक आध्यात्मिक रहस्य की ओर संकेत कर रही है जो विचारशील पाठकों के ध्यान में थोड़े-से मनन से स्वयं आ सकता है।

आध्यात्मिक रहस्य

अब पाठक जरा विचारिये कि यह सुदामा कौन हैं? उनकी पत्नी कौन हैं? वे तन्दुल कौन-से हैं? इत्यादि। यदि अन्तःप्रविष्ट होकर देखा जाय तो सुदामा की कथा में एक आध्यात्मिक रूपक है—भक्त और भगवान् के परस्पर मिलन की एक मधुर कहानी है। इसी रहस्य का किञ्चित् उद्घाटन थोड़े में किया जायगा।

'दामन्' शब्द का अर्थ है—रस्सी, बाँधने की रस्सी। यशोदा मैया के द्वारा बाँधे जाने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण का एक नाम है—दामोदर। इस प्रकार 'सुदामा' शब्द का अर्थ हुआ रस्सियों के द्वारा अच्छी तरह बाँधा गया पुरुष अर्थात् बद्धजीव, जो सांसारिक मायापाश में आकर ऐसा बँध गया है कि उसे अन्य किसी भी वस्तु की चिन्ता

ही नहीं। सुदामा सान्दीपनि-मुनि के पास कृष्ण का सहाध्यायी है। जीव भी आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान के सङ्ग होने पर उस जगदाधार परब्रह्म का चिरन्तन मित्र है—सखा है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।' ज्ञान का आश्रय जब तक जीव को प्राप्त है, तब तक वह अपने असली रूप में है, वह श्रीकृष्ण का—परब्रह्म का—सखा बना हुआ है, परन्तु ज्यों ही दोनों का गुरुकुलवास छूट जाता है—वियोग हो जाता है, जीव संसारी बन जाता है, वह माया के बन्धन में आकर सुदामा बन जाता है। वह अपने सखा को बिल्कुल भूल जाता है। सुदामा की पत्नी बड़ी साध्वी है—जीव भी सात्त्विकी बुद्धि के संग चिरसुखी रहता है। सात्त्विकी बुद्धि जीव को बारम्बार उसके सच्चे मित्र की स्मृति दिलाया करती है। जीव संसार में पड़ कर सब को—अपने सच्चे रूप को—भूल ही जाया करता है, केवल सत्त्वमयी बुद्धि का जब-जब विकास हुआ करता है, वह जीव को अपने प्राचीन स्थान की ओर लौट जाने के लिये—उस चिरन्तन मित्र परब्रह्म की सन्निधि पाकर अपने समस्त बन्धनों को छुड़ा देने के लिये—बारम्बार याद दिलाया करती है। सुदामा जी सदा अपने कुटिल भाग्य को कोसा करते थे। जीव भी भाग्य को उलाहना देकर किसी प्रकार अपने को सन्तुष्ट किया करता है।

आखिर सुदामा जी पत्नी के द्वारा संगृहीत चावल को लेकर द्वारका चले। चावल सफेद हुआ करता है। चावल से अभिप्राय यहाँ पुण्य से है। पुण्य का सञ्चय भी सात्त्विकी बुद्धि किया करती है। जीव जब जगदीश से मिलने के लिये जाता है तब उसे चाहिये उपायन। उपायन भी किसका? सुकर्मोंका—पुण्य का। सुकर्म ही सुदामा जी के तण्डुल हैं। जीव जब तक उदासीन बैठा हुआ है—अकर्मण्य बना हुआ है, उस जगदीश की द्वारका कालै कोसों दूर है, परन्तु ज्यों ही वह पुण्य की पोटली बगल में दबाये ,सुबुद्धि की प्रेरणा से सच्चे भाव से उसकी

खोज में चलता है वह द्वारका सामने दीखने लगती है। भला, वह भगवान् दूर थोड़े ही हैं ? दूर हैं वह अवश्य, यदि भक्त में सच्ची लगन न हो; परन्तु यदि हम सच्चे स्नेह से अपने अन्तरात्मा को शुद्ध बना कर उसकी खोज में निकलते हैं तो वह क्या दूर हैं ? गरदन झुकाई नहीं कि वह दीखने लगे। 'दिल के आइने में है तसवीरे यार। जब कभी गरदन झुकाई देख ली ॥' बाबा तुलसीदास जी भी कह गये हैं—

'सनमुख होय जीव मोहि जबहीं। कोटि जन्म अघ नासौं तबहीं ॥

जो मनुष्य किसी वस्तु से विमुख है, समीप में होने पर भी वह चीज दूर है, परन्तु सम्मुख होते ही वह वस्तु सामने झलकने लगती है। भक्तजन को चाहिये कि सुकर्मों की पोटली लेकर भगवान् के सम्मुख हों, भगवान् दूर नहीं हैं।

सुदामा जी द्वारका में पहुँच गये, द्वारपाल से कहला भिजवाया, श्रीकृष्ण स्वयं पुरानी पहचान याद कर दौड़े हुए आये। जीव तो भगवदंश ही है, वह तो उसके साथ सदा विहार करनेवाला है। उसके अन्तर्मुख होते ही भगवान् स्वयं उसे लिवा ले जाते हैं। हिन्दी-कवियों ने लिखा है सुदामा की दीन-दशा देख श्रीकृष्ण बहुत रोये—मनों आँसू बहाया। 'देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करि के करुणानिधि रोये। परन्तु भागवत में लिखा है—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुस्करेक्षणः ॥

अपने प्यारे सखा को इतने दिनों के बाद मिलने से श्रीकृष्ण अत्यन्त आह्लादित हुए—सुदामाजी के अंग स्पर्श से भगवान् आनन्दमग्न हो गये; उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। जिस प्रकार भगवान् को पाकर भक्तजन परम निर्वृति को पाते हैं, उसी प्रकार भक्त के सङ्ग से भी उस आनन्दमय जगदीश के हृदय में आनन्द की लहरी उठने लगती

है। क्या भक्त और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं ? 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्' (नारदसूत्र)।

सुदामाजी से श्रीकृष्ण पूछते हैं---कुछ उपायन लाये हो ! भक्तजनों के द्वारा अर्पित की गयी थोड़ी भी चीज़ को भगवान् बहुत बड़ी समझते हैं---

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्यैव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

सुदामा जी लज्जित होते हैं कि श्रीपति को भला ये चावल क्या दूँ ? परन्तु भगवान् लज्जाशील सुदामा की काँख से पोटली निकाल चावल खाने लगते हैं। जीव भी बड़ा लज्जित होता है कि उस जगदीश के सामने अपने सुकर्मों को क्या दिखलाऊँ, परन्तु भगवच्चरण में अर्पित थोड़ा भी कर्म बड़ा महत्त्व रखता है। भगवान् उसके कियदंश से ही भक्तजन के मनोरथ परिपूर्ण करने में समर्थ है---सर्वस्व को स्वीकार कर समग्र त्रैलोक्य का आधिपत्य---स्वीयपद भी देने के लिये तैयार हो जाते हैं, परन्तु श्री—भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति—ऐसा करने नहीं देती। अस्तु, सुदामा को चाहिये क्या ? वह तो इतने से कृतकृत्य हो गया और उसने भगवल्लोक को प्राप्त कर लिया। भक्त को भी चाहिये क्या ? भगवान् की सन्निधि में आकर अपने सञ्चित कर्मों को—'पत्रं पुष्पं' को —उन्हें अर्पण कर दिया। सुदामा की भाँति जीव कुछ देर तक संशय में रहता है कि अर्पित वस्तु को जगदीश ने स्वीकार किया या नहीं, परन्तु जब जीव अपनी कुटिया—भौतिक शरीर को देखता है, तब उसे सर्वत्र चमकती हुई पाता है, जन्म-जन्म की मलिनता धुल जाती है, वह पवित्र भवन बन जाता है, जिस में वह अपनी सुबुद्धि के साथ निवास करता हुआ विषयों से विरक्त रह परम सौख्य

का अनुभव करता है। भगवान् की अनुकम्पा का फल देर से थोड़े ही मिलता है! भक्तजन इसी शरीर में उसका साक्षात् अनुभव करते हैं।

प्रेमीजन! हम सब को सुदामा बनना चाहिये। हम अपने-अपने तण्डुल लेकर भगवान् के सामने चलें, वह करुणावरुणालय उसे अवश्य स्वीकार करेंगे, हमारा दुःख दूर कर देंगे, मायापाश से हमें अवश्य छुड़ा देंगे, परन्तु हम यदि सच्चे भाव से अपनी प्रत्येक इन्द्रिय को उसी की सेवा में लगा दें। भागवत के इन पद्यरत्नों को स्मरण कीजिये—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत् तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम्॥

---

(६) 'मानस' की महत्ता

रामायण भारतवर्ष का सिद्ध ग्रन्थ है। यह भारतीय सभ्यता का चूड़ान्त निदर्शन है—भारतीय संस्कृति का अनुपम आगार है। केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम लोग भारतीय सभ्यता की रूप-रेखा खींच सकते हैं, भारतीय आदर्श को भलीभाँति समझ सकते हैं। है भी यह भगवदवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का पवित्र चरित्र। हमारे जितने भी आदर्श हैं उनका इस ग्रन्थ में हम उदात्त विशुद्ध रूप पाते हैं। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पत्नी, आदर्श राजा, आदर्श प्रजा—इत्यादि जितने भी भारतीय समाज के आदर्श हो सकते हैं उनका जीता-जागता स्वरूप हमें रामायण में मिलता है। इसी कारण यह भारतीयों की अमूल्य निधि है—अनमोल खजाना है। यवद्वीप, सुवर्णद्वीप आदि नये उपनिवेशों में भारतीय

सभ्यता की स्थापना की महनीय इच्छा से प्रेरित होकर भारतीय औपनिवेशिकों ने रामायण का ही सहारा लिया था। वे इस देश के बाहर जहाँ कहीं गये, वहाँ अपने साथ रामायण की पोथी लेते गये और वहाँ इसका प्रचुर प्रचार किया। वहाँ की भाषा में इसका अनुवाद किया। रामायण के आधार पर वहाँ नाटक बने, महाकाव्य निर्मित हुए, गद्यग्रन्थों की रचना हुई। जावा और बालीद्वीप की प्राचीन 'कवि' भाषा में आज भी रामायण के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार भारत में राम की लीलाएँ देख कर भारतीय जनता अपने आदर्श के जीवन्त रूप को देख कर आनन्दमग्न होती है, उसी प्रकार जावा और बाली में आज भी लोग रामलीला को देखकर आनन्द से विभोर हो उठते हैं। इस प्रकार रामायण के प्रसार का इतिहास भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास का इतिहास है।

संस्कृत में अनेक रामायणों की रचना हुई है। 'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्' में अतिशयोक्ति नहीं है; यह तो अधिकांश में वस्तुस्थिति के आधार पर है। आज से तीन सौ वर्ष पहले जिन रामायणों की उपलब्धि होती थी वे भी आज नहीं मिलते। शाहजहाँ के समय में श्रीकवीन्द्राचार्य के ग्रन्थालय में जिन पचासों रामायणों की सत्ता थी आज उनके नाम भी तो कहीं नहीं मिलते। इसी प्रकार भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं तथा किन्हीं-किन्हीं उपभाषाओं में भी रामायण की रचना हुई है। इस प्रकार राम का पावन चरित्र भारत के कोने-कोने में व्याप्त हुआ और उनकी ललित लीलाओं ने इस भारत-भूमि को और भी पुण्यतम बना दिया। इन रामायणों में हम तुलसीदास रचित रामचरितमानस की विशेषता पर दृष्टि डालेंगे और साथ ही साथ वाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्मरामायण की विशेषता पर भी तारतम्य के प्रदर्शन के विचार से किञ्चित् ध्यान देंगे।

वाल्मीकिरामायण

वाल्मीकिरामायण महर्षि वाल्मीकिजी की पुण्यमयी रचना है, जिसमें लगभग २४ हजार श्लोक हैं। वाल्मीकि ने श्रीरामचन्द्र का चरित्र आदर्श पुरुष के रूप में अङ्कित किया है। मर्यादा की रक्षा करनेवाला महान् पुरुष जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का आचरण करेगा, इसका सच्चा स्वाभाविक वर्णन वाल्मीकीय रामायण में विद्यमान है। यह कर्मप्रधान महाकाव्य है—ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्रत्येक पात्र के कार्यों को विस्तृतरूप से, याथातथ्य प्रकार से, दिखलाया गया है। इस कारण इस रामायण में वर्णित पात्रों का ठीक-ठीक रूप, जैसा चाहिये जैसा हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रातःस्मरणीय और श्लाघनीय चरित्र की उदात्तता का जैसा नैसर्गिक चित्र वाल्मीकिजी ने खींचा है वैसा किसी भी रामायण में नहीं मिल सकता। अन्य पात्रों के चरित्र की भी यही दशा है। वाल्मीकिरामायण के अध्ययन करने पर ही हम उनके महत्त्व को भली-भाँति समझ सकते हैं। उदाहरण के लिये सुन्दरकाण्ड में वर्णित हनुमान्जी के चरित्र को लीजिये। मेरा तो कहना है कि सुन्दरकाण्ड का बिना अध्ययन किये हम हनुमान्जी के अदम्य उत्साह, अलौकिक वल, असाधारण धैर्य और प्रखर बुद्धिवैभव को समझ ही नहीं सकते। समुद्र को पार करना कितना विकट कार्य था, यह वाल्मीकिजी ही ने दर्शाया है। जब हनुमान्जी ने महेन्द्र पर्वत को आकाश में उड़ने के पूर्व अपने चरणों से दबाया, तब मतवाले हाथी के कपोलों के तरह उससे जल की धारा अकस्मात् फूट निकली। जीवों ने भयसञ्चार के कारण इतना हल्ला मचाया, कि जान पड़ता था कि पृथिवी, दिशाएँ, वन और उपवन सब प्रचण्ड नाद से व्याप्त हो गये हों; विद्याधरों को जान पड़ा कि यह पहाड़ फट रहा है, इसलिये उन्होंने सोने के बरतनों में रक्खे हुए स्वादु भोजनों को छोड़ दिया और अपनी स्त्रियों के साथ डर के मारे आकाश में चले

गये। हनुमान्‌जी के इस विकराल रूप और प्रभाव की व्यञ्जना अन्यत्र कहाँ मिलेगी। लङ्का विशाल दुर्गम दुर्गों की रचना के कारण सर्वथा अगम्य थी, फिर भी इस लङ्का में प्रवेश कर और तर्क-वितर्क कर सीताजी की टोह लगाने में मारुति ने जिस चातुर्य और व्युत्पन्न बुद्धि का परिचय दिया है वह क्या कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है ? तुलसीदासजी ने तो मानस में हनुमान्‌जी का लंका में प्रवेश करा कर विभीषणजी से भेंट करा दी है और उन्हींके द्वारा हनुमान्‌जी को सीता के निवास का पता दिलवा दिया है—

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥

पर वाल्मीकि ने हनुमान्‌जी को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सीता का पता लगाते दिखलाया है। अशोकवाटिका में रामचरित का कीर्तन कर अपना परिचय देने में स्वाभाविकता, पकड़े जाने पर रावण की सभा में अपने कार्य की सूचना देने में निर्भीकता, शत्रुओं से घिरे रहने पर भी निश्चिन्तता धारण करने में नैसर्गिक धीरता, रावण से बातचीत करने में वाक्‌चतुरता, लौटने पर वानरों के सामने सीताजी की कुछ गोपनीय बातों को छिपाने में राजनीतिज्ञता—आदि जिन गुणों का वर्णन वाल्मीकि ने नितान्त स्वाभाविक ढंग से किया है वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं है ही नहीं, यह हम बिना किसी सन्देह के कह सकते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक पात्र के चरित्र के विषय में समझना चाहिये। रावण सीताजी से अपना प्रेम जतला रहा है, उस समय जनकनन्दिनी ने केवल एक बात कह कर जिस प्रकार उसका अनादर किया है और अपने पवित्र पातिव्रतधर्म के पालन की सूचना दी है वह नितान्त उदात्त और महत्त्वपूर्ण है।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

(सुन्दरकाण्ड २६। १०)

'इस निन्दनीय निशाचर रावण को मैं बायें चरण से भी छू नहीं सकती; भला उससे मैं किस प्रकार प्रेम कर सकती हूँ।'

जानकीजी का सहस्रों निशाचरियों की क्रूर भर्त्सना सुनते हुए भी यह वचन कहना कितना महत्त्वपूर्ण है, इसे पाठक सहज ही में समझ सकते हैं। वियोगविधुरा सीता के वर्णन में वाल्मीकि ने उपमाओं की लड़ी रच दी है। उसके देखने से हमें वाल्मीकि की प्रतिभा के साथ-साथ सीताजी की पवित्रता का भी पता चलता है—

संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥२२॥
तां स्मृतीमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ॥२३॥
सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥२४॥
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥२८॥

(सु० का० १५)

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त स्थान स्थान पर अनेक आध्यात्मिक बातों का भी सन्निवेश किया गया है। समुद्र पार करते समय हनुमान्‌-जी ने प्राणों का अवरोध कर लिया था और उस पार पहुँचने पर उन्होंने तनिक भी निःश्वास नहीं लिया—

अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति।

—इत्यादि सूचनाएँ वाल्मीकि के गहरे ज्ञान की द्योतिकाएँ हैं। इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण रामचरित्र की विशालता, उदात्तता तथा महत्ता को पर्याप्त मात्रा में बतलानेवाला अलौकिक काव्यमाधुरी से सम्पन्न महाकाव्य है, जिसका अध्ययन प्रत्येक भारतीय को अपने प्राचीन गौरव और संस्कृति को समझने के लिये करना नितान्त आवश्यक है।

× × × ×

अध्यात्मरामायण

इसके नाम से ही इसके वर्णन की सूचना मिलती है। इसमें श्रीरामचन्द्र का चरित्र अध्यात्मज्ञान के आधार पर वर्णित किया गया है। इसमें रामजी अयोध्या के अधीशरूप में वर्णित नहीं किये गये हैं और न जानकी जी केवल उदात्तचरित्र जनक की नन्दिनीमात्र हैं; उनके इस रूप की ओर रचयिता का कुछ भी ध्यान नहीं है। उनका समग्र ध्यान राम-सीता के अध्यात्मिक रूप के प्रदर्शन में लगाया गया है। राम पुरुष हैं, सीता प्रकृति हैं; राम परमब्रह्म हैं और सीता उनकी अनिर्वचनीया माया हैं। इन्हीं की लीला का विकास यह सम्पूर्ण विश्व है। ब्रह्म और माया ने ही देवताओं के द्वारा पृथ्वी के महान् भार को उतारने की प्रार्थना किये जाने पर इस संसार में आकर अपनी लीला का विस्तार दिखलाया है। पूरा रामचरित इसी ब्रह्म-माया की अनोखी विचित्र चरितावली का मनुष्य-समाज के उपकार के लिये किया गया पावन चित्रण है; इसकी सूचना ग्रन्थारम्भ के मंगलश्लोक से स्पष्टतः हो जाती है—

यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मयः
सञ्जातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥

आगे चल कर उत्तरकाण्ड के सुप्रसिद्ध 'रामगीता' में तो अद्वैत-वेदान्त की प्रख्यात पद्धति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के परिशोधन और ज्ञान का वर्णन बड़ी विशुद्धता और विशदता के साथ किया गया है। इस प्रकार अध्यात्म रामायण ने ज्ञान को मूलभित्ति मान कर रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया है। इस रामायण की यही अपनी निजी विशेषता है।

रामचरितमानस

इन दोनों देववाणी में लिखे गये रामायणों की विशेषता पर ध्यान देने से मानस की महत्ता सहज ही में जानी जा सकती है। तुलसीदास ने मानस में राम के चरित्र का वर्णन करने के लिये भक्तिपक्ष का आश्रय लिया है। भक्ति की मूलभित्ति पर रामचरित को खड़ा किया है। श्रीरामचन्द्र के विषय में तुलसीदास की कौन-सी भावना थी, इसे उन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थानों में स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है। श्रीरामजी स्वयं भगवान् के रूप हैं और श्रीजानकीजी साक्षात् शक्तिरूपा हैं। राम से ही क्यों, रामके रोम-रोम से करोड़ों विष्णु, ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति होती रहती है; उसी प्रकार श्रीसीताजी के शरीर से करोड़ों उमा, रमा और ब्रह्माणी का आविर्भाव हुआ करता है। ये दोनों साक्षात् भगवान् और भगवती के आकार हैं; दो शरीर होनेपर भी उनमें नैसर्गिक एकता बनी हुई है। सीताराम की परिदृश्यमान अनेकता में भी अन्तरङ्ग एकता का वर्णन तुलसीदासजी ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है—

गिरा अरथ जल बीचि, सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

जिस प्रकार वाणी और अर्थ में एकता बनी हुई है और जल तथा वीचि (लहरी) में एकता बनी हुई है, यद्यपि ये दोनों देखने में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रही हैं, उसी प्रकार सीता और राम में भी बाह्य भिन्नता को बाधित करती हुई अभिन्नता विद्यमान है। सीता-राम का अभेद दिखलाते समय गोसाईंजी ने इस तरह दो उदाहरणों को रक्खा है। इनके रखने में गोसाईंजी ने अपने हृदय की बात व्यक्त कर दी है। पहली बार गिरा-अर्थ का दृष्टान्त है, जो महाकवि कालिदास के—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

—पद्य में दिये गये दृष्टान्त से मेल खाता है। वाणी और अर्थ की अभिन्नता को समझना सर्वसाधारण का काम नहीं है, प्रत्युत शब्दशास्त्र के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों का काम है। अतएव सर्वसाधारण की प्रतीति के लिये उन्होंने सर्वत्र दृश्यमान और सहज में बोधगम्य जल-तरङ्ग की अभिन्नता का उदाहरण पेश किया है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पर आते समय भी गोसाईंजी ने शब्दयोजना की विशेषता के कारण एक चमत्कार पैदा कर दिया है। पहल बार स्त्रीलिङ्गद्योतक उपमान पहले रक्खा गया है और दूसरी बार पीछे। शक्ति के उपासकों के लिये शक्ति की प्रधानता है, शक्तिमान्‌की गौणता। पर शक्तिमान् (भगवान्) के उपासक के लिये शक्तिमान् की ही प्रधानता है, शक्ति की गौणता। इस प्रकार दो प्रकार के उदाहरणों को रखते समय गोसाईंजी ने इन्हें सर्व-साधारण के लिये बोधगम्य ही नहीं बनाया है, प्रत्युत शक्तिरूपिणी सीता और शक्तिमान्‌स्वरूपी राम के द्विविध उपासकों को पृथक् रूप से पर्याप्त मात्रा में सन्तुष्ट कर दिया है। इस तरह युगल सरकार की मनोरम जोड़ी की वास्तविक एकता को गोसाईंजी ने स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है।

यही कारण है कि रामचरित का वर्णन करते समय तुलसीदासजी ने उनके वास्तविक रूप को कहीं भी नहीं भुलाया है, बल्कि पाठकों को बारंबार याद दिलाया है कि केवल नर-लीला करने के विचार से ही सरकार ऐसा चरित कर रहे हैं। अन्यथा वे तो साक्षात् परमात्मा ठहरे, उनको किसी प्रकार का क्षोभ नहीं, किसी पर क्रोध नहीं ; सुवर्णमृग पर भी किसी प्रकार का लोभ नहीं, इत्यादि। मायामृग के पीछे मनुष्य-लीला करने के लिये जो दौड़े चले जा रहे हैं वे वही हैं जिनके विषय में श्रुति नेति-नेति कह कर पुकार रही है और शिवजी भी जिनको ध्यान में नहीं पाते—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा।
मायामृग पाछे सो धावा॥

ऐसे प्रसङ्गों की बहुलता को देख कर कुछ आलोचक गोसाईंजी पर तरह-तरह का आक्षेप किया करते हैं। उनसे मेरा यही कहना है कि उन लोगों ने तुलसीदास के दृष्टिकोण को भलीभाँति परखा ही नहीं; यदि उन्होंने उनकी श्रीरामविषयक भावना का ऊहापोह किया होता, तो वे इस प्रकार की अनर्गल आलोचना करने का दुःसाहस नहीं करते। व्यापक दृष्टि से देखने पर मानस में कोई भी प्रसङ्ग आक्षेप करने के लायक नहीं है।

गोसाईंजी ने उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से बड़ी खूबी के साथ दिखलाया है। उस प्रसंग के अवलोकन करने से भक्ति की प्रधानता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। ज्ञान-दीपक के देखने से ज्ञान को दुरूहता का पता भलीभाँति लग जाता है। ज्ञान के जिस दीपक के जलाने के लिये इतने परिश्रम और प्रयास करने पड़ते हैं वह थोड़ी ही विघ्न-बाधाओं के सामने बुझ जाता है। और उधर भक्ति? भक्ति तो साक्षात् चिन्तामणि की तरह सुन्दर है। उसका परम प्रकाश दिन-रात बना रहता है और न तो उसके लिये 'दिया' चाहिये, न घृत और न बाती। लोभ का वायु उसको बुझा भी नहीं सकता। प्रबल अविद्या का अन्धकार उसके आगे झट से मिट जाता है, कामादि खल उसके निकट नहीं फटकते, मानसिक रोग भी उसे व्याप्त नहीं करते, जिसके पास यह भक्ति-चिन्तामणि विद्यमान रहता है। अतः भक्ति और ज्ञान में आकाश और ज़मीन का अन्तर है—महान् भेद है। इसी कारण गोसाईंजी ने अपना सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥

उपसंहार

संक्षेप में तीनों प्रसिद्ध रामायणों में यह भिन्नता है कि इनमें से प्रत्येक में राम का चरित्र एक विशेष ढंग से वर्णित है। बाल्मीकि-रामायण में कर्म को आधार मान कर राम की लीलाएँ वर्णित की गयी हैं; अध्यात्मरामायण में ज्ञान को आश्रय देकर; रामचरितमानस में भक्ति-पक्ष को लेकर। इस प्रकार इन तीनों रामायणों के द्वारा एक-एक की पूर्ति होती है, पुनरुक्ति नहीं। यही कारण है कि देववाणी में लिखे गये आदिकवि श्रीवाल्मीकि के द्वारा निर्मित रामायण के रहते हुए भी विवेकी पण्डितजन भाषा में भी लिखे गये मानस का अध्ययन प्रेम से करते हैं और उसमें सानन्द अवगाहन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। तुलसीदास की यही बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनका नाम संस्कृत के महाकवियों के साथ सादर लिया जाता है और इस कलिकाल में वे आदि कवि वाल्मीकि के अवतार ही माने जाते हैं। जब तक हम भारतीय अपने प्राचीन गौरव के प्रति प्रेम रखते हैं और जब तक हम लोग मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र में पूज्यबुद्धि धारण कर उनकी लीलाओं के सुनने में हर्ष और सन्तोष प्रकट करते हैं तब तक वाल्मीकि की कृति के समान ही तुलसीदासजी के इस अनुपम ग्रन्थरत्न रामचरितमानस का भी आदर सदा होता रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

शैव-धर्म

(७) शिवोपासना की प्राचीनता

भगवान् शिव की पूजा का पौराणिक काल से बहुत महत्त्व चला आया है तथा महादेवजी की गणना तीन सर्वश्रेष्ठ देवताओं में है। प्रायः यह सब की धारणा है कि शिव की पूजा इसी समय से प्रचलित हुई और पहले महादेवजी की पूजा इस रूप में नहीं थी। हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों को न छेड़कर इस छोटे से लेख में शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रादि पुरातत्त्वविषयक सामग्रियों से शिवोपासना की प्राचीनता दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा।

वैदिक काल में शिव की पूजा आधुनिक रूप में नहीं थी और न महादेव या शिव-शब्द का अधिक प्रयोग ही होता था। ऋग्वेद में 'रुद्र' शब्द का शिव के लिये प्रयोग मिलता है और जो विशेषण शिवजी के लिये प्रयुक्त हुए हैं वे प्रायः रुद्र के लिये मिलते हैं। (ऋ० १०।९२।९ तथा १।११४। ९)

सर रामकृष्ण भण्डारकर ने बहुत विस्तार के साथ यह दिखलाया है कि रुद्र का रूप आगे चल कर शिव के रूप में कैसे बदला तथा महा-भारत के समय शिवलिङ्ग की पूजा कैसे प्रचलित हुई। [भण्डारकर— 'वैष्णव तथा शैवपन्थ', पृष्ठ १४५, १६०]

भारत के इतिहास में पुरातत्त्व का बहुत बड़ा स्थान है। इससे भारतीय सभ्यता की विशेषता का बहुत कुछ पता चला है। आधुनिक मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा की खुदाई ने भारतीय धार्मिक इतिहास पर ब त प्रकाश डाला है। सिन्धु-तटवर्तिनी सभ्यता में शिव-पूजा की

विशेषता दिखलायी पड़ती है। यहाँपर दो तरह की शिव-मूर्त्तियाँ मिली हैं। पहली मूर्त्ति जो मोहन-जो-दड़ोकी मुहरोंमें मिलती है योगावस्थामें बैठे 'ध्यानी' शिव की है।

इसमें शिवजी बीच में बैठे हैं तथा उनके चारों ओर पशु की आकृतियाँ हैं। शिव को 'पशुपतिनाथ' कहते हैं, अतः बाघ, हाथी, गैंडा तथा भैंसा 'ध्यानी' शिव के चारों तरफ खड़े हैं। त्रिशूल की जगह शिव के मस्तक पर तीन आकृतियाँ हैं जो आगे चल कर अलग त्रिशूल का आकार धारण कर लेती हैं। उस चौकोन मुहर में शिव के सिंहासन के नीचे दो मृग भी हैं। दूसरी मुहर में शिव के तीन मुख हैं जो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का बोध कराते हैं।

'ध्यानी' शिव की आकृति के सिवा मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा में बहुत-सी पत्थर आदि की सामग्रियाँ मिली हैं जो शिवलिङ्ग की मूर्त्ति के समान हैं। इससे यह स्वतः प्रमाणित होता है कि उस काल में भी शिवलिङ्ग की पूजा होती थी। ऋग्वेद में दो जगह (७।२१।५, १०।१०।९९) 'शिश्न देवाः' शब्द आया है। इसका अर्थ पश्चिमीय विद्वान् यह करते हैं कि अनार्य लोग शिवलिङ्ग के पूजक थे। आर्यों में जो शिवलिङ्ग की पूजा देखने में आती है वह अनार्यों से सीखी गयी है। परन्तु पश्चिमीय विद्वानों की यह धारणा युक्तिसङ्गत नहीं है। यास्क तथा सायण ने शिश्न का अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। अतः इसका दूसरा अर्थ जो पाश्चात्यों ने किया है, ठीक नहीं है। अभीतक इसके लिये पर्याप्त प्रमाण भी नहीं मिले हैं जिन से यह सिद्ध हो सके कि आर्यों ने शिवलिङ्ग की पूजा अनार्य लोगों से सीखी है। विद्वानों में अभी तक इस विषय पर मतभेद है कि सिन्धु-तटवर्तिनी सभ्यता वैदिक सभ्यता से पहले की है या पीछे की। परन्तु अनेक कारणों से यह सभ्यता वैदिककाल से पीछे की मानी जा सकती है। सिन्धु-तटवर्तिनी सभ्यता आज से ५ या ६ हजार वर्ष पूर्व उस प्रदेश में प्रचलित थी। अतः शिव-पूजा को भी

उतनी ही पुरानी मानने में कोई आपत्ति नहीं है। पुरातत्व की खोज में इससे प्राचीन कोई स्थान नहीं मिला है जो हिन्दू-सभ्यता पर प्रकाश डालता हो। ऐतिहासिक काल से बौद्धधर्म की प्रबलता हुई। इसी काल में हिन्दू-धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त पुरातत्व विशारदों को इस काल की बौद्ध धर्म-सम्बन्धी भी बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। ईसा से २०० वर्ष पूर्व जब पुष्पमित्र सुंग ने ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार किया, तब से ब्राह्मण-धर्म की प्रबलता दिनोंदिन बढ़ती ही गयी।

ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में बैक्ट्रियन तथा शक राजाओं ने उत्तर-पश्चिम भारत पर राज्य किया। उनके सिक्कों पर वृषभ के चिह्न अङ्कित हैं। राजा अपलदतस तथा शक राजा मोस (Maues) की मुद्रा पर का वृषभ-चिह्न शिव के नन्दी का द्योतक है, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर रेपसन (Rapson) महोदय को सन्देह है। परन्तु यह सन्देह युक्तिसङ्गत नहीं मालूम पड़ता। इतिहासज्ञ लोग इस बात को जानते हैं कि बौद्धकाल से देवता को छोड कर उसके चिह्न (Symbol) की पूजा की जाने लगी। इसी प्रथा के अनुसार शिव की पूजा छोड़ कर लोग उन दिनों उनके चिह्न, नन्दी की पूजा करने लगे। अतः उस समय की मुद्राओं पर अङ्कित वृषभ को शिव का प्रतीक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। कुछ समय के उपरान्त स्वयं शिव की मूर्ति सिक्कों पर अङ्कित होने लगी। पार्थियन (Parthian) राजा गोण्डाफरनिस के सिक्के पर शिव की मूर्ति अङ्कित है, जिससे यह सिद्ध है कि उन दिनों उस देश में शिव-पूजा का विशेष प्रचार था। [देखिये लाहौर म्यूजियम के सिक्कों का सूचीपत्र प्लेट १५, नं० ४१ तथा गार्डनर प्लेट २२, नं० ८]

ईसवी सन् की पहली शताब्दी में कुषाणवंशीय नरेशों ने एक बहुत विस्तृत राज्य कायम किया, जिसका विस्तार काशी तक था। राजा वीम कडफाइसीस तो शैव-धर्म को स्वीकार कर महादेव का उपासक बन

गया, जैसा कि उसके सिक्कों को देखने से प्रतीत होता है। उनमें एक तरफ राजा का चित्र है, दूसरी तरफ महादेवजी नन्दी को लिये खड़े हैं। उन में शिवजी त्रिशूल तथा डमरू लिये दिखलाये गये हैं। राजा वीम का एक भी सिक्का ऐसा नहीं है जिस पर शिव तथा नन्दी की मूर्ति न हो। उसके उत्तराधिकारी, महाराजा कनिष्क ने तथा उसके वंशजों ने भी इसी प्रकार के सिक्के चलाये। महाराजा कनिष्क की बौद्धधर्म स्वीकार करने की प्रसिद्धि है, परन्तु इसके सिक्कों पर भी शिव की मूर्ति पायी जाती है। उनमें शिवजी 'ईसो' (Oesho) या ईश के नाम से अङ्कित हैं। उस मूर्ति में महादेवजी के चार भुजाएँ हैं, जिनमें से एक में डमरू साफ दिखायी पड़ता है। [देखिये लाहौर म्यूजियम की मुद्राओं की सूची—प्लेट १७, नं० ६५]।

कुषाणवंशीय नरेशों के सिक्कों पर शिव के लिये दूसरा नाम 'मयासेनो' (Maaceno) यानी 'महेश' भी आया है। कुषाणवंशीय वासुदेव के सिक्के पर तो केवल चतुर्भुज शिव की मूर्त्ति तथा नन्दी की आकृति दिखलायी पड़ती है। उस समय शिव की पूजा इतनी महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी, अथवा इसका इतना अधिक प्रभाव था कि करीब दो सौ बरस तक (दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में) 'छोटे' कुषाण तथा 'किदार' कुषाणों ने निरन्तर शिव को ही अपनी मुद्राओं पर स्थान दिया। यद्यपि पञ्जाब के पूरबी हिस्से में लक्ष्मी का प्रभाव अधिक था, तथापि उस समय शिवोपासना की ही प्रधानता थी। अवश्य ही इन तीन शताब्दियों में लिङ्ग-पूजा की प्रधानता नहीं दिखलायी पड़ती, यद्यपि इसके बाद कई सौ वर्ष तक लिङ्ग-पूजा की ही प्रधानता रही ऐसा प्रतीत होता है।

बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने नागवंश नामक एक नये राजवंश का उल्लेख किया है, जिसने कुषाणों के बाद तथा गुप्तराज्य के उत्थान के पहले राज्य किया। इस वंश के राजा मध्य-भारत में राज्य करते थे।

इनके शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इस वंश के आदिपुरुष ने शिवलिङ्ग को अपने कन्धे पर रख कर तथा शिवजी को परितुष्ट कर अपने वंश की स्थापना की थी जिसका पता निम्नलिखित शिलालेख से लगता है—'अंसभारसन्निवेशितशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नानां भारशिवानाम्' [ना० प्र० पत्रिका—भाग १३, अंक १]। इसीलिये इस वंश का नाम 'भारशिव' भी पड़ा। इससे ज्ञात होता है कि नागवंशी नरेशों ने शिव को अपना आराध्यदेव माना था तथा वे शिवलिङ्ग की पूजा किया करते थे। काशी में एक मूर्त्ति भी मिली है जिसमें मस्तक पर शिवजी की पिण्डी लिये हुए किसी पुरुष की आकृति बनी हुई है।

['गङ्गा'-पुरातत्त्वाङ्क, पृष्ठ ६९]।

इनके बाद उत्तरी भारत में गुप्त-साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह तो प्रसिद्ध है कि गुप्त वंशीय नरेश वैष्णव थे तथा उनके नाम के आगे हमेशा 'परमभागवत' की पदवी का उल्लेख मिला है। इस काल में विष्णु-पूजा का उत्कर्ष था, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय शिवकी पूजा नहीं होती थी।

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज से सिद्ध है कि गुप्तकाल में विष्णु-पूजा के साथ-साथ शिव की भी पूजा होती थी। उस समय का एक शिवलिङ्ग मिला है जो लखनऊ के म्यूजियम में रक्खा है। इसको महाराजा कुमारगुप्त ने तैयार कराया था। यह लिङ्ग ऊपर गोलाकार शिव-लिङ्ग है तथा इसके नीचे का हिस्सा चपटा है जिस पर एक लेख खुदा हुआ है। इसे 'करमदण्डा की प्रशस्ति' कहते हैं। उस काल में शिवपूजा का प्रचार इतना बढ़ गया था कि जिन बाहरी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया उन्होंने भी शैवधर्म को स्वीकार किया। गुप्तवंशी राजा स्कन्दगुप्त के समय में हूण लोगों ने कई बार आक्रमण किया परन्तु उसने अपनी वीरता के द्वारा उन्हें पीछे भगा दिया। कुछ काल के बाद हूणों ने मध्य-

भारत में एक सुदृढ़ राज्य स्थापित कर लिया। तोरमाण के लड़के मिहिर-कुल ने एक छोटा सिक्का चलाया था जिस पर एक तरफ वृषभ की आकृति बनी हुई है तथा उसके नीचे 'जयतु वृषः' लिखा हुआ है। मुद्रा पर राजा की आकृति के सामने भी एक वृषाङ्कित ध्वजा का चिह्न है। इससे प्रतीत होता है कि हूणों ने महादेवजी को ही अपना आराध्यदेव माना तथा वे उनकी पूजा-अर्चा करते थे।

गुप्तों के ह्रास के अनन्तर उत्तरी भारत में छठी शताब्दी में मौखरि-राजाओं ने बहुत बड़ा राज्य स्थापित किया था। मौखरि-वंश के राजाओं के शिलालेखों में राजाओं के नाम के साथ-साथ 'परम माहेश्वर' की उपाधि मिलती है। मध्यप्रान्त के असीरगढ़ नामक स्थान में इन्हीं राजाओं की एक मुहर मिली है जिस पर नन्दी का चित्र है। नन्दी के साथ दो सेवक भी हैं। इससे ज्ञात होता है कि मौखरि शिव के उपासक थे। उन्हीं दिनों बंगाल में राजा शशाङ्क ने अपनी महत्ता स्थापित की। महाकवि बाण ने अपने 'हर्षचरित' में वर्णन किया है कि शशाङ्क ने मौखरि-वंश के अन्तिम राजा को मार डाला। उसने बौद्धधर्म का नाश करने की बहुत कोशिश की। कहा जाता है कि वह शैवधर्म को माननेवाला था। इसलिये उसने बोधगया से बोधिवृक्ष को उखड़वा कर फेंकवा दिया। इस बात की पुष्टि उसके सिक्कों से होती है। उसके सिक्कों पर नन्दी सहित शिव का चित्र अङ्कित है। शशाङ्क ने केवल इसी तरह के सिक्के चलाये जिससे यह सिद्ध होता है कि वह शिव का बहुत बड़ा उपासक था तथा इसीलिये उसने बौद्धधर्म को निर्मूल करने का प्रयत्न किया। अलन साहब (Allan) ने अपनी 'गुप्त सिक्कों की सूची' की भूमिका के पृष्ठ १०१ में यह बतलाया है कि बलभी के राजाओं ने भी उस शताब्दी में वृषभ के चित्र को अपने झण्डे पर स्थान दिया था। इसका कारण यही हो सकता है कि बलभी (गुजरात) के राजाओं ने शैवधर्म को स्वीकार किया हो। सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं

शताब्दी तक सारे भारत में शिव-पूजा की ही प्रधानता रही। कोशिद के राजाओं ने भी शिव को अपना उपास्यदेव माना तथा अपने सिक्कों पर वृषभ का चित्र रक्खा। इसकी प्रधानता इतनी बढ़ी कि सब राजपूत नरेशों ने भी इसी सिक्के की नकल पर अपना सिक्का चलाया। नवीं सदी में कश्मीर में शिव की पूजा जोरों पर थी। राजा अवन्तिवर्मन् के मन्त्री सूर ने एक मन्दिर में भूतेश्वर महादेव की मूर्ति स्थापित करवायी। ये राजा प्रायः शैव ही थे, यद्यपि उनके धर्म के विषय में कोई विशेष प्रमाण नहीं है। इसी समय में स्वामी शङ्कराचार्य का दक्षिण में प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने हिन्दूधर्म का शङ्ख फूँका। दक्षिण में शिव की प्रधानता दिनों दिन बढ़ने लगी। स्वामीजी के उपदेश से राजा, रङ्क, सभी शिव के उपासक बन गये। यों दसवीं शताब्दी में चोलवंशीय महाराज 'राजराजा' ने तञ्जौर में अपने नाम पर राजराजेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया। ऐसे विशाल मन्दिर हिन्दूकाल में कम देखने को मिलते हैं।

इसके बाद शिव की पूजा का प्रचार इतना बढ़ा तथा शिव-मन्दिर का निर्माण इतने अधिक पैमाने में होने लगा कि उसका वर्णन इस छोटे-से लेख में नहीं किया जा सकता। दसवीं सदी के पीछे प्रायः शिव की ही प्रधानता रही।

ऊपर लिखे पुरातत्त्व के प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि शिव की उपासना बहुत प्राचीन है। जहाँ तक प्रमाण मिले हैं, आज से छः हजार वर्ष पूर्व मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा में शिव की पूजा होती थी और उसके बाद भी शिव-पूजा की परम्परा बराबर जारी रही। केवल गुप्त नरेशों को छोड़कर प्रायः सभी राजाओं ने शैव-धर्म को स्वीकार कर शिव की पूजा का प्रचार किया था। पौराणिक काल से इस शिव-पूजा को स्वामी शङ्कराचार्य के अनन्तर प्रचलित हुई बतलाना नितान्त दुःसाहस है।

आजीवक धर्म

(८) आजीवक सम्प्रदाय

(१) पाणिनियुग में स्थिति

भारत में आजकल ही इतने विभिन्न धार्मिक संप्रदाय दृष्टिगोचर नहीं होते बल्कि अत्यंत प्राचीनकाल में भी ऐसे संप्रदायों के जाल इस देश में बिछे थे। साधारण लोगों की यह धारणा है कि श्रीशंकराचार्य से ही इस सांप्रदायिकता की नींव भारत में पड़ी, रामानुजाचार्य के समय में यह कुछ दृढ़ हुई तथा पंद्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण धार्मिक आंदोलन ने जिसके मुखिया श्रीरामानंद स्वामी थे, इसने भारत की धार्मिक भूमि में इतनी अच्छी तरह जड़ पकड़ ली कि आज किसी तरह भी डुलाए नहीं डुलती। कुछ अंशों में धार्मिक संप्रदाय का पूर्वोक्त वर्णन उसके विकास का पूर्णतया पता बता देता है परंतु श्रीशंकराचार्य से ही इसका आरंभ मानना इतिहास की दृष्टि में उतना समुचित नहीं जँचता।

शंकर के करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले भी भारत में अनेक धार्मिक संप्रदायों का यथेष्ट पता मिलता है। जब बुद्ध धर्म के प्रवर्तक आचार्य गौतम बुद्ध का अभी जन्म भी न हुआ था, जब आचार्य महावीर ने अपनी अहिंसा-प्रचारिणी शिक्षा से विहार की पुण्य भूमि में करुणा सरिता न बहाई थी; तब से भी पहले भारत ने धार्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति देखी थी। पाणिनि के समय के एक धार्मिक संप्रदाय का थोड़ा सा वर्णन इतिहास-प्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है।

'मस्करी' परिव्राजक

पाणिनि के समय में 'मस्करी' नामक परिव्राजकों का एक संप्रदाय था। इस शब्द की उत्पत्ति के विषय में पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र

द्रष्टव्य है—मस्करमस्करिणौ वेणु–परिव्राजकयोः (५।१।१५४) वेणु के अर्थ में 'मस्कर' तथा परिव्राजक के अर्थ में 'मस्करी' शब्द निपातन से सिद्ध किए जाते हैं। इस सूत्र पर महाभाष्य, काशिका तथा कैयट कृत टीका देखने से स्पष्टतः 'मस्करी' परिव्राजकों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है।

महाभाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते समय लिखते हैं—'मस्कर जिसके पास होगी' इस अर्थ के द्योतक इनि प्रत्यय के लगने पर मस्करी (वेणुधारी) पद सिद्ध ही हो जाता, फिर पूर्वोक्त सूत्र में इस शब्द के रखने का प्रयोजन क्या? नहीं, वेणुधारी के अर्थ में 'मस्करी पद' सिद्ध न होगा; बल्कि जो परिव्राजक 'काम मत करो, काम मत करो, शांति तुम्हारे लिए भली है' इस प्रकार उपदेश देता है; वही 'मस्करी' के नाम से पुकारा जाता है[1]।

प्रदीप में कैयट[2] ने भी महाभाष्यकार के मत को केवल दुहराया है—'यह मत करो, यह मत करो, काम्य कर्मों को छोड़ देना ही तुम्हारे लिए कल्याण कारक है' यह जो उपदेश देता है, उसे 'मस्करी' कहते हैं। पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'मस्करी' लोग बड़े भारी 'दैववादी' थे, वे कर्मों को छोड़ने का उपदेश हर एक को दिया करते थे; काम छोड़ भाग्य के भरोसे रहना ही उनका परम पुरुषार्थ था।

पूर्वोक्त सूत्र की काशिकावृत्ति[3] भी भाष्यकार की सम्मति की

---

१ न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।—महाभाष्य।

२ अयं मा कृत अयं मा कृतेत्युपक्रम्य शान्तितः काम्यकर्मपरिहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते।

३ परिव्राजकेऽपि माङ्युपपदे करोतेस्ताच्छील्य इनिर्निपात्यते।

प्रामाणिकता सिद्ध कर रही है। मस्करी बना कैसे ? इसके लिए काशिका बतलाती है कि 'मा' उपपद कृ धातु से ताच्छील्य (स्वभाव) के अर्थ में इनि प्रत्यय किया गया है तथा निपातन से आकार को ह्रस्व बनाने तथा सुडागम करने पर यह पद निष्पन्न हुआ है (मा + $\sqrt{}$कृ + इनि = मस्करिन्)। इस व्युत्पत्ति से मस्करी का अर्थ हुआ—वह परिव्राजक जिसका स्वभाव कभी काम करना न हो अर्थात् जो कर्म को बुरा जानकर छोड़ देता है।

काशिका से भी 'मस्करी' के विषय में केवल यही ज्ञात हुआ कि ये परिव्राजक लोग दैववादी थे, कार्यों के त्याग करने के पक्ष में थे। पाणिनि के समय में इनका सम्प्रदाय अत्यंत प्रसिद्ध रहा होगा तभी तो पाणिनि ने इनको अपने सूत्र में स्थान देने का आयोजन किया है।

मस्करी = आजीवक

अब हमें यह विचार करना है कि क्या हम पाणिनि के 'मस्करी' की इतिहास प्रसिद्ध किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय के साथ अभिन्नता सिद्ध कर सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक नहीं है। बुद्ध के समय में प्रसिद्ध आजीवक नामक धार्मिक संप्रदाय तथा पाणिनि का मस्करी दोनों एक ही थे। बौद्ध साहित्य में आजीवक लोगों के जो मूल सिद्धांत वर्णित हैं वे मस्करी लोगों के उपदेशों से भिन्न नहीं हैं। एक स्थान पर आजीवकों के मूल सिद्धांत का वर्णन करते हुए बुद्ध भगवान् स्वयं कहते[1] हैं—आजीवक लोग कहते हैं कि न तो कर्म है, न क्रिया है और न वीर्य। यह सिद्धांत मस्करी के पूर्वोक्त उपदेश—

माङोह्रस्वत्वं सुट्च तथैव। माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते। सत्यमेवमाह। माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी।

१ नात्थि कम्मं, नात्थि किरियं, नात्थि विरियं ति।

अंगुत्तर निकाय जि० १, पृ० २८६।

मा कृत कर्माणि—के बिलकुल समान ही है। जानकीहरण में भी सीता को हरने के लिए रावण 'मस्करी' के वेष में ही आता[1] है। उससे भी जान पड़ता है कि मस्करी तथा आजीवक दोनों एक ही संप्रदाय के थे। बुद्ध के जीवनचरित से भी पूर्वोक्त अभिन्नता सिद्धि होती है। जब बुद्ध भगवान् अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, उसी समय में मंक्खलि गोसाल नामक आजीविकों के आचार्य का भी प्रभाव धार्मिक जगत् में कम न था, ये आजीवक बतलाए गए हैं। परन्तु इनके नाम का प्रथम अंश—मंक्खलि—संस्कृत 'मस्करी' का पाली रूप है, अतएव गोसाल वास्तव में मस्करी संप्रदाय के ही थे। इसी के सूचन के लिए यह अंश उनके नाम के पहले जोड़ा गया है। इन प्रमाणों से ठीक जान पड़ता है कि पाणिनि के 'मस्करी' बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध 'आजीविक' थे।

बौद्ध ग्रंथों के देखने से पता लगता है कि मस्करी लोग बड़े भारी तपस्वी थे, ये हठयोग की कठिन से कठिन प्रक्रिया से अपनी देह को सुखा देते थे, तपाग्नि तपते थे तथा अपने शरीर पर धूलि अथवा भस्म लगाया करते थे। जानकीहरण के पूर्वोक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि इनके सिर पर बड़ी बड़ी जटाएँ भी शोभित होती थीं। इस संप्रदाय का उस समय बड़ा बोल-बाला था। पाली ग्रंथों में इस संप्रदाय के दो अन्य आचार्यों के नाम दिये हैं जो गोसाल के भी पहले हो चुके थे—एक का नाम था नंदवच्छ तथा दूसरे का किससंकिच्छ। सच तो यह है कि बुद्ध के बहुत पहले ही इस संप्रदाय की उत्पत्ति भारतवर्ष में हो चुकी थी।

---

१ दंभाजीविकमुत्तुंग जटामडितमस्तकम्।
कञ्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥
स० १०, पृ० ७६।

(२) अभ्युदय

आजीवक सम्प्रदाय भारत के प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि यह सम्प्रदाय वैयाकरण पाणिनि से पुराना है और पाणिनि का आविर्भाव-काल गौतमबुद्ध से पहले होने के कारण इस मत की बौद्धधर्म से प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। 'आजीवक' अथवा 'आजीविक' का अर्थ है 'आजीविका के लिए फिरनेवाला'। इस नामकरण के भीतर प्राचीन तथ्य छिपा हुआ है। इस सम्प्रदाय के साधु लोग जीविका के लिए निमित्तविद्या अर्थात् ज्योतिष का आश्रय लेते थे। वे लोगों को आने-जाने का शुभ मुहूर्त बतलाते थे, उनके भविष्य की बातें गिनकर बतलाया करते थे जो सच्ची निकलती थीं। इस प्रकार ये जनता के आदर तथा सत्कार को भाजन बनने में सर्वथा समर्थ होते थे। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पता ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों से भली भाँति मिलता है।

भगवान् बुद्ध ने अपने समय के जिन सुप्रसिद्ध प्रभावशाली छः तीर्थंकरों का बहुशः उल्लेख किया है उनमें अन्यतम है—मंक्खलि गोसाल। मंक्खलि 'मस्करी' का ही पाली रूप है। गोसाल की ख्याति जैनधर्म के ग्रन्थों में विशेषरूप से उपलब्ध होती है। गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने के कारण ही इनका नाम 'गोसाल' पड़ गया था। गोसाल कुछ दिनों तक स्वतन्त्ररूप से भिक्षा माँगा करता था, तदनन्तर महावीर की तपस्या तथा शुद्ध चरित्र से आकृष्ट होकर वह उनका शिष्य बन गया परन्तु गुरु-शिष्य में सिद्धान्त की भिन्नता होने से उनमें आपस में पटी नहीं। महावीर की कृपा से उसने 'तेजोलेश्या' नामक शक्ति प्राप्त की। वह नियतिवाद का प्रौढ़ प्रचारक था। जनता में उसके उपदेशों का प्रभाव खूब पड़ा। उसके छः प्रधान

शिष्य हुए जो उसके सिद्धान्तों का चारों दिशाओं में प्रचार करते फिरते थे। उनके नाम हैं—(१) शान, (२) कलन्द, (३) कर्णिकार, (४) अच्छिद्र, (५) अग्नि वैश्यायन और (६) गोमायुपुत्र अर्जुन।

गोसाल के मत में 'हालाहला' नामक कुँभारिन प्रधान स्थान रखती है। वह श्रावस्ति नगरी की रहनेवाली नीच जाति की स्त्री थी, परन्तु वह थी बड़ी धनाढ्य, बुद्धिमती और सुन्दरी। आजीवक मत के विस्तार में इसका भी विशेष सहयोग था। गोसाल तथा महावीर के परस्पर शास्त्रार्थ होने की बात जैन ग्रन्थों में उल्लिखित है जिसमें जैन महावीर के तर्क तथा तपोबल के सामने आजीवक को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। कतिपय विद्वान् (विशेषतः डाक्टर हार्नली) गोसाल को ही इस मत का उद्भावक मानते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है। जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रतीत होता है[1] कि गोसाल से सातवाँ पूर्व आचार्य उदायी कुण्डियायन हुआ। वही वस्तुतः इस मत का संस्थापक आदि आचार्य था। उसके अनन्तर ऐणेयक, मल्लराम, माल्यमण्डित, रोह, भारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन तथा मंखलिपुत्र गोसालक—ये सात पदधर हुए जिन्होंने क्रमशः २२, २१, २०, १९, १८, १७ तथा १६ वर्षों तक आचार्य-पद को भोगा था। बौद्ध ग्रन्थों (दीघनिकाय और मज्झिम निकाय) से मत के दो अन्य आचार्यों का परिचय मिलता है जिनके नाम थे—किस्ससंकिच्च तथा नन्दवच्छ। ये सम्भवतः गोशालक के पूर्ववर्ती आजीवक भिक्षु थे और इन्होंने निमित्तशास्त्र के ज्ञाता तथा तेजोलेश्या के अधिकारी होने के कारण गोशालक को अपने संघ का अग्रणी बनाया था।

गोशालक की मृत्यु तो जैन महावीर की मृत्यु (   ) से

---

१ पं० कल्याण विजय जी जानी—'श्रमण भगवान् महावीर नामक पुस्तक पृ० २६४-६५।

पहले ही हो गई, परन्तु आजीवक मत की प्रसिद्धि तथा प्रचालन देश में खूब था। अशोक के शिलालेखों में आजीवकों का उल्लेख है। गया के पास बर्बर पहाड़ी की एक गुफा की दीवाल पर अशोक का शिलालेख है जिससे प्रतीत होता है कि उसने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में वह गुफा आजीवकों को अर्पित की। सातवें स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मणों और निर्ग्रन्थों (जैनियों) के साथ साथ आजीवक लोग भी आदरणीय धार्मिक सम्प्रदाय माने जाते थे। अशोक के पुत्र दशरथ के द्वारा गुहा-समर्पण का उल्लेख मिलता है। जैनाचार्य कालकाचार्य का निमित्त-शास्त्र पढ़ने के लिए आजीवकों के पास जाने की बात निर्दिष्ट है। अतः विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में आजीवकों का विशेष प्रचार दृष्टिगोचर होता है। विक्रम के पञ्चमशतक में सुप्रसिद्ध ज्यौतिषी वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' के 'प्रव्रज्यायोग' प्रकरण में सात प्रकार के भिक्षुओं में आजीवकों को भी अन्यतम माना है। टीकाकार भट्टोत्पल (११ वीं शताब्दी) ने इन्हें 'एक दण्डी' तथा नारायण का भक्त बतलाया है। निशीथ चूर्णि के भाष्यकार के समय (सप्तम शतक) ये लोग 'गोशालक शिष्य' होने के अतिरिक्त 'पाण्डुर भिक्षु' या 'पाण्डुरंग भिक्षु' कहलाने लगे थे। अनुयोगद्वार चूर्णि में 'पाण्डुरंग' का पर्याय 'सरजस्क' है अर्थात् धूल से भरे अंगवाले। आजीवक भिक्षु नग्न ही रहते थे। अतः सम्भव जान पड़ता है शीत के रोकने के लिए वे अपने शरीर पर भस्म लगाते होंगे और इसी कारण उनका नाम 'पाण्डुरंग' (भूरे रंगवाला साधु) पड़ गया होगा। विक्रम के अष्टम शतक में ये अपने स्वतन्त्र सम्प्रदाय को खो बैठे और धीरे-धीरे शैवों और वैष्णवों के सम्प्रदायों में घुल-मिल गये। इसीलिए आचार्य शीलाङ्क ने 'शैव' और भट्ट उत्पल इन्हें 'नारायण भक्त' बतलाया है। सम्भावना यह प्रतीत होती है कि आजकल के नागा लोगों की जमात में इनका अन्तर्भाव हो गया है। आजीवक सम्प्रदाय जैनियों तथा बौद्धों के सम्प्रदाय के समान

अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये न रख सका, परन्तु उसका व्यापक प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। 'नियतिवाद' आजीवकों का प्रधान सिद्धान्त है और वह बहुत दिनों से इस देश के जनसाधारण का मान्य सिद्धान्त बन चुका है। 'भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्'—आदि वाक्य आजीवकों के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनिमात्र हैं।

(२) आचार

आजीवकों के आचार तथा विचार का परिचय पाना आवश्यक है, परन्तु इनका कोई भी निजी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः जैन और बौद्ध ग्रन्थ ही प्रधान अवलम्बन हैं। इनके सम्प्रदाय में दो प्रकार के अनुयायी थे—(१) भिक्षु, जो इधर-उधर भिक्षा लेकर वैराग्य-वृत्ति से जीवन बिताते थे और (२ गृहस्थ, जो घरबारी होते थे। भिक्षु लोग बिल्कुल नंगे रहते थे। इसी कारण वे 'अचेलक' (= बिना वस्त्र वाले) नाम से बौद्ध ग्रन्थों में विख्यात हैं। वे बड़ी कठिन तपस्या किया करते थे। जैन स्थानाङ्ग सूत्र का कथन है—आजीवकों के चार प्रकार के तप हैं—उग्र तप, घोर तप, रसनियूंहना तप और जितेन्द्रिय-प्रतिलीनता तप जो कठोर तपों के भिन्न-भिन्न प्रकार जान पड़ते हैं। जैन औपपातिक सूत्र का वर्णन है—ग्राम, नगर, पुर और सन्निवेशों में जो आजीवक रहते हैं उनके प्रकार ये हैं—द्विगृहान्तरित, त्रिगृहान्तरित, सप्तगृहान्तरित (क्रम से दूसरे, तीसरे और सातवें घर में भिक्षा-माँगने वाले और न मिलने पर उपवास करने वाले), उत्पलवृन्तिक (= कमलों के डंठल को खाने वाले), गृह-सामुदानिक (= घरों के क्रम से भिक्षा लेने वाले), विद्युदन्तरित (= रास्ते में बिजुली के चमकने पर भिक्षा से लौट आने वाले) और उष्ट्रिका श्रयण (मिट्टी के बड़े बर्तन के भीतर बैठे रहने वाले)। मज्झिम निकाय (११ प्रकरण) में निग्रन्थ साधु-सच्चक ने इनका जो वर्णन किया है उससे पता चलता है कि ये भोजन-छाजन में

कड़े नियमों का पालन करते थे—'ये अपने हाथों में भोजन करते थे। देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ तथा चूल्हे पर पकता हुआ आहार ग्रहण नहीं करते थे। ये मद्य, मांस, मत्स्य आदि के भोजन से सर्वथा पृथक् रहते थे।

आजीवक गृहस्थों के भी आचार बहुत अच्छे थे। माता-पिता की सेवा उनका प्रधान कर्तव्य था। भोजन में गूलर, बड़, बेर, शहतूत तथा पीपल के फलों का त्याग करते थे (पञ्चफल प्रत्याख्यान)। प्याज, लहसुन तथा कन्दमूल को भी कभी न खाते थे। बिना दागे और बिना नाथे हुए बैलों से जीविका चलाते थे और त्रस (चलते-फिरते) जीवों को बचा कर अपना जीवन निर्वाह करते थे। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भिक्षुओं के समान आजीवक मत के गृहस्थों का आचार उच्च कोटि का था। प्राणिहिंसा से बचना उनका प्रधान ध्येय था। जैनियों और इनमें आचार के विषय में विशेष विभेद नहीं था।

(४) विचार

आजीवक लोग आत्मवादी, पुनर्जन्म तथा मोक्ष को माननेवाले दार्शनिक थे, परन्तु इनके मत में आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का था? इसका ठीक २ पता नहीं चलता। मज्झिमनिकाय के प्रमाण पर बुद्ध के विरुद्ध धार्मिक-नेता लोग यह मानते थे कि 'प्रबुद्ध आत्मा' निर्वाण के बाद अपना अस्तित्व रखती है, परन्तु उसके अस्तित्व के प्रकार में भेद था। गोशालक का मत था कि आत्मा रूपी है और महावीर का पक्ष था कि आत्मा 'अरूपी' है।

इनका सब से प्रधान मत था—नियतिवाद। जगत् की कोई भी घटना, कोई वस्तु पुरुष प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नहीं होती; प्रत्युत वह नियति के वश में होकर कार्य करती है। दीघनिकाय[1] के शब्दों में

---

१ दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) पृ० २०।

मंखलि का संक्षिप्त मत यह है—"सत्त्वों के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं हैं। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है और कोई प्रत्यय नहीं है। अपने कुछ नहीं कर सकते हैं, पराये भी कुछ नहीं कर सकते हैं, कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है। क्योंकि बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वश में नहीं हैं निर्बल, निर्वीर्य भाग्य और संयोग के फेर से वे सुख दुःख भोगते हैं।" यह है कट्टर दैववाद। उनके अनुसार पुरुष के प्रयत्न पर कुछ भी अवलम्बित नहीं है, क्योंकि शक्ति, पौरुष या मनुष्यबल नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। जैन ग्रन्थों से इस मत को पर्याप्त पुष्टि प्राप्त होती है। उपासक दशांग के सप्तम अध्ययन में महावीर तथा आजीवक मत के अनुयायी सद्दालपुत्र नामक धनाढ्य कुम्भकार के वार्तालाप का वर्णन है। महावीर ने जब बरतनों के विषय में पूछा कि ये बरतन पुरुष पराक्रम से तैयार हुए हैं अथवा किसी पराक्रम के बिना ही, तब सद्दालपुत्र ने झट से उत्तर दिया—मृत्तिकाभाण्ड नियति बल से बनते हैं, पुरुष पराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियतिवश होते हैं। जिसका जैसा होना नियत होता है, वह वैसा ही बनता है उसमें पुरुष पराक्रम कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि सब भाव नियत रहते हैं"। इसके अतिरिक्त जगत् में उत्पन्न होने वाले प्राणियों के विषय में भी इनके अनेक विचित्र मत थे जिनका उल्लेख दीघनिकाय में किया गया है।

कतिपय विद्वान् आजीवकों को दिगम्बर जैनियों से भिन्न नहीं मानते हैं, क्योंकि वाह्य आचारों के विषय में उनकी समता स्पष्ट है। दोनों ही नग्न रहते थे, दोनों ही हिंसा से विमुख रहते थे। परन्तु सत्यप्रतिपादक प्रमाणों की छानबीन कर मुनि कल्याण विजय जी का निर्णय यथार्थ प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न २ सम्प्रदाय के थे।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने दोनों का उल्लेख अलग अलग किया है। उन्होंने ओघनिर्युक्ति-भाष्य की एक गाथा भी इस प्रसंग में उद्धृत की है जिसमें आजीवकों का निर्देश दिगम्बरों से पृथक् किया गया है[1]—

चक्कयरंमि भमाडो, भुक्खामारो य पांडुरंगंमि ।
तच्चन्निय रुहिरपडनं बोडियमसिए धुवं मरणं ।१०७।

वर्षा चातुर्मास्य के लिए ग्राम में प्रवेश करते समय यदि चक्रधर भिक्षु सामने मिले तो चातुर्मास्य में भटकना पड़ता है। यदि पांडुरंग (आजीवक) भिक्षु मिले, तो भूख की मार सहनी पड़े। यदि बौद्धभिक्षु मिले तो रुधिर गिरे। बोटिक (दिगम्बर जैन) तथा असित (भौत नामक) भिक्षुओं के मिलने पर मरण निश्चित है। इस गाथा में 'पांडुरंग' तथा 'बोडिय' का उल्लेख पृथक् रूप से होना सिद्ध करता है कि ये दोनों भिन्न भिन्न सम्प्रदाय थे। पिछले ग्रन्थों में आचारसाम्य से कहीं दोनों एक माने गये हैं, परन्तु ये वस्तुतः भिन्न भिन्न मत वाले थे।

जैन तथा बौद्ध मतों से भी प्राचीन आजीवक मत का यही संक्षिप्त परिचय है। उस समय इसकी गणना बड़े धर्म के रूप में की जाती थी, परन्तु कालक्रम से प्रभावशाली नायक के अभाव में यह मत जनता का समादर न पा सका और शनैः शनैः अन्य सम्प्रदायों में निविष्ट हो गया।

जैन धर्म

(६) महावीर की जन्मभूमि

वैशाली युगान्तरकारिणी नगरी है। इसकी गणना भारत की ही प्रधान नगरियों में नहीं की जा सकती, प्रत्युत संसार के कतिपय नगरियों में यह प्रमुख है—उन नगरियों में, जहाँ से धर्म की दिव्य ज्योति ने दम्भ तथा कपट के घने काले अन्धकार को दूर कर विश्व के प्राणियों के सामने मंगलमय प्रभात का उदय प्रस्तुत किया; जहाँ से परस्पर विवाद करने वाले, कणमात्र के लिए अपने बन्धुजनों के प्रिय प्राण हरण करने वाले क्रूर मानवों के सामने पवित्र भ्रातृभाव को शिक्षा दी गई; जहाँ से 'अहिंसा परमो धर्मः' का मन्त्र संसार के कल्याण के लिए उच्चारित किया गया। पाश्चात्य इतिहास उन नगरों की गौरव गाथा गाने में तनिक भी श्रान्त नहीं होता जिनमें प्राणियों के रक्त की धारा पानी के समान बही और जिसे वह भाग्य फेरने वाले युद्धों का रंगस्थल बतलाता है। परन्तु भारत के इस पवित्र देश में वे नगर हमारे हृदय-पट पर अपना प्रभाव जमाये हुए हैं जिन्हें किसी धार्मिक नेता ने अपने जन्म से पवित्र बनाया तथा अपने उपदेशों का लीला-नगर प्रस्तुत किया। वैशाली ऐसी नगरियों में अन्यतम है। इसे ही जैनधर्म के संशोधक तथा प्रचारक महावीर वर्धमान की जन्मभूमि होने का विशेष गौरव प्राप्त है। बौद्धधर्मानुयायियों के हृदय में कपिलवस्तु तथा रुम्मिनदेई के नाम सुनकर जो श्रद्धा और आदर का भाव जनमता है, जैन मतावलम्बियों के हृदय में ठीक वही भाव वैशाली तथा कुण्डग्राम के नाम सुनने से उत्पन्न होता है।

वैशाली के इतिहास में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। उसने बड़ी राजनीतिक उथल-पुथल देखी। कभी यहाँ की राजसभा में मन्त्रियों की

परिषद् जुटती थी, तो कभी वहाँ के संस्थागार में प्रजावर्ग के प्रतिनिधि राज्यकार्य के संचालन के लिए जुटते थे। कभी वंशानुगत राजा प्रजाओं पर शासन करता था, तो कभी बहुमत से चुना गया 'राजा' नामधारी अध्यक्ष अपने ही भाइयों पर उन्हीं की राय से उन्हीं के मंगलसाधन में सचिन्त रहता था। तात्पर्य यह है कि प्राचीन युग में वैशाली में राज्य-तन्त्र की प्रधानता थी। वाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि जब राम लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र ने यहाँ पदार्पण किया था, तब यहाँ के राजा सुमति ने उनका विशेष सत्कार किया था[1]। जैन सूत्रों तथा बौद्ध पिटकों में वैशाली प्रजातन्त्र की क्रीडास्थली के रूप में अंकित की गई है। भगवान बुद्ध ने अपने अनेक चातुर्मास्य यहीं बिताये थे; इसमें चार प्रधान चैत्य थे—पूर्व के चैत्य का नाम था उदयन, दक्षिण में गौतमक, पश्चिम में सप्ताम्रक, उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य[2]। अम्बपाली नामक गणिका जो धार्मिक श्रद्धा तथा वैराग्य के कारण बौद्ध धर्म में विशेष प्रसिद्ध है— ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वैष्णवधर्म में पिंगला—यहीं रहती थी। उसीका आम्रवन बुद्ध के उपदेश देने का प्रधान स्थान था। बुद्ध के समय लिच्छवि लोगों को यहाँ प्रजातन्त्र के रूप में हम शासन करते पाते हैं। इससे बहुत पहले हम यहाँ महावीर वर्धमान को जन्मते, शिक्षा ग्रहण करते तथा प्रव्रज्या लेते पाते हैं। वर्धमान के समय में भी यहाँ गणतन्त्र राज्य ही था। वैशाली के इतिहास में कोई महान् परिवर्तन

---

१ तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्
आवसत्यमरप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥ १८ ॥
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्युद्गच्छन्महायशाः ॥ १९ ॥
—बालकाण्ड ४७ सर्ग ।

२ द्रष्टव्य दीघनिकाय—महापरिनिव्वाणसुत्त (नं० १३)

अवश्य हुआ होगा जिससे वह विशाला तथा मिथिला दोनों राज्यों की राजधानी बन गई तथा उसका शासन राज्यतन्त्र से गणतन्त्र हो गया। इस परिवर्तन के कारणों की छानबीन करना इतिहास-प्रेमियों का कर्तव्य है।

वैशाली में अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुईं। परन्तु उनमें सब से सुन्दर विभूति है—भगवान् महावीर, जिसकी प्रभा आज भी भारत को चमत्कृत कर रही है। लौकिक विभूतियाँ भूतलशायिनी बन गईं, परन्तु यह दिव्य विभूति आज भी अमर है और आनेवाली अनेक शताब्दियों में अपनी शोभा का इसी प्रकार विस्तार करती रहेगी। जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत पुराना है। इसका संस्थापन महाराज ऋषभदेव ने किया था, जैनियों की यही मान्यता है। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वस्तुतः ऐतिहासिक पुरुष हैं। वे महावीर से लगभग दो सौ वर्ष पहिले हुए थे। वे हमारी काशी के रहने वाले थे। महावीर ने उनके धर्म में नये संशोधन कर उसे नवीन रूप प्रदान किया। भारत का प्रत्येक प्रान्त जैनधर्म की विभूतियों से मण्डित है। ऐतिहासिक लोग पार्श्वनाथ को जैनधर्म का संस्थापक मानते हैं और वर्धमान महावीर को संशोधक। महावीर गौतम बुद्ध के सम-सामयिक थे; परन्तु बुद्ध के निर्वाण से पहले ही उनका अवसान हो गया था। इस प्रकार वैदिकधर्म से पृथक् धर्मों के संस्थापकों में महावीर वर्धमान् ही प्रथम माने जा सकते हैं और इनकी जन्मभूमि होने से वैशाली की पर्याप्त प्रतिष्ठा है।

वैशाली तथा उसके आसपास के प्रदेशों का प्रामाणिक वर्णन जैन सूत्रों में विशेष रूप से दिया हुआ है। इनकी विशद सूचना बौद्धग्रन्थों से भी उपलब्ध नहीं होती। इन प्रदेशों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है:—

वैशाली के पश्चिम ओर गण्डकी नदी बहती थी। यह नगरी बड़ी समृद्धिशाली थी। इसका भौगोलिक विस्तार भी न्यून न था। गण्डकी

के पश्चिमी तट पर अनेक ग्राम थे जो वैशाली के 'शाखा नगर' कहे जाते हैं। निम्नलिखित ग्रामों का परिचय मिलता है—

(१) कुण्डग्राम—इस नाम के दो ग्राम थे। एक का नाम 'ब्राह्मण कुण्डग्राम, या कुण्डपुर था जिसमें ब्राह्मणों की ही विशेष रूप से बस्ती थी। दूसरे का नाम 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' था जिसमें क्षत्रियों का ही प्रधानतया निवास था। इनमें दोनों क्रमशः एक दूसरे से पूरब पश्चिम में थे। थे दोनों पास ही पास। दोनों के बीच में एक बड़ा बगीचा था जो 'बहुसाल चैत्य' के नाम से विख्यात था। दोनों नगरों के दो-दो खण्ड थे। 'ब्राह्मण कुण्डपुर' का दक्षिण भाग 'ब्रह्मपुरी' कहलाता था क्योंकि यहाँ ब्राह्मणों ही का निवास था। उत्तर ब्राह्मण कुण्डपुर के नायक ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण थे जिनकी भार्या का नाम 'देवानन्दा' था। ये दोनों पार्श्वनाथ के द्वारा स्थापित जैनधर्म के माननेवाले गृहस्थ थे। 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' के भी दो विभाग थे। दक्षिणी भाग में पाँच सौ घर 'ज्ञाति' नामक क्षत्रियों के थे जो उत्तरी भाग में जाकर बसे हुए थे। उत्तर कुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। ये काश्यपगोत्रीय ज्ञाति-क्षत्रिय थे तथा 'राजा' की उपाधि से मण्डित थे। वैशाली के तत्कालीन राजा का नाम था—चेटक, जिनकी भगिनी (त्रिशला) का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। इन्हीं त्रिशला और सिद्धार्थ के कनिष्ठ पुत्र 'वर्धमान' थे जिनका जन्म इसी ग्राम में हुआ था।

(२) कर्मारग्राम—प्राकृत 'कम्मार' कर्मकार का अपभ्रंश है। अतः कर्मार का अर्थ है मजदूरों का गाँव अर्थात् लोहारों का गाँव। यह गाँव भी कुण्डग्राम के पास ही था। महावीर प्रव्रज्या लेकर पहली रात यहीं ठहरे हुए थे।

(३) कोल्लाक संनिवेश—यह स्थान पूर्व निर्दिष्ट ग्राम के समीप ही था। कर्मारग्राम में विहार कर महावीर ने यही पारणा की थी। उपासकदशा सूत्र के प्रथमाध्ययन में इस स्थान की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख

मिलता है। यह नगर वाणिज्य ग्राम (जिसका वर्णन नीचे है) के तथा उसके बगीचे के बीच में पड़ता था।

(४) वाणिज्य ग्राम—यह जैन सूत्रों का 'वाणिज्यगाम' = बनियों का गाँव है। गण्डकी नदी के दाहिने किनारे पर यह बड़ी भारी व्यापारी मंडी था, ऐसा जान पड़ता है यहाँ बड़े-बड़े धनाढ्य महाजनों की बस्ती थी। यहाँ के एक करोड़पति का नाम आनन्द गाथापति था जो महावीर का बड़ा भक्त सेवक था। आजकल की वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले की बसाढ़पट्टी) के पास बनिया ग्राम है। बहुत सम्भव है कि यह गाँव 'वाणिज्यग्राम' का ही प्रतिनिधि हो।

बौद्ध ग्रन्थों के, विशेषतः दीघनिकाय के अनुशीलन से पता चलता है कि बुद्ध के समय में वैशाली बड़ी समृद्धिशालिनी नगरी थी। उसमें ७ हजार ७ सौ ७७ महलों के होने का उल्लेख स्पष्टतः उसे विशाल तथा समृद्ध नगर बतला रहा है। नगर के भीतर अम्बपाली नामक बड़ी ही धनाढ्य और गुणवती गणिका रहती थी। ६ या ७ बड़े-बड़े चैत्यों के नाम मिलते हैं जहाँ भगवान् बुद्ध ने अपना चातुर्मास्य बिताया। इसके पास ही 'वेणुग्राम' का उल्लेख मिलता है जहाँ बुद्ध ने वर्षा में निवास किया था। इस वर्णन से स्पष्ट है कि वैशाली बड़ी नगरी थी जिसके उपनगर अनेक थे तथा उस समय खूब प्रसिद्ध थे।

वैशाली को हमने महावीर वर्धमान की जन्मभूमि बतलाया है परन्तु आज कल सर्व-साधारण जैनियों की मान्यता है कि बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम आठ कोस पर स्थित लच्छुआड़ गाँव ही महावीर की जन्मभूमि है। परन्तु सूत्रों की आलोचना से यह मान्यता निर्मूल ठहरती है। इस विषय में पं० कल्याणविजय जी गणि ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर'[1], में जो विचार प्रकट किये हैं वे

१ 'श्रमण भगवान् महावीर'—शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर के द्वारा प्रकाशित, सं० १९९८, भूमिका पृष्ठ २५–२८।

मेरी दृष्टि में नितान्त युक्तियुक्त हैं। पहली बात ध्यान देने योग्य यह है कि सूत्रों में महावीर विदेह के निवासी माने गये हैं। कल्पसूत्र ने महावीर को 'विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेह सूमाले' (अर्थात् विदेह विदेहदत्त विदेह-जात्य विदेहसुकुमार) लिखा है। वे 'वैशालिक' भी कहे गये हैं। अतः इन्हें विदेह की राजधानी वैशाली का निवासी मानना अनुचित नहीं है।

(२) 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' के राजपुत्र जमालि ने ५०० राजपुत्रों के साथ जैनधर्म ग्रहण किया था। इससे यह कोई बड़ा समृद्ध नगर प्रतीत होता है। महावीर का प्रायः नियम-सा था कि जहाँ कोई धनाढ्य भक्त हो वहाँ वर्षावास करना। अतः इस 'क्षत्रिय कुण्डग्राम' की प्रसिद्धि तथा समृद्धि के अनुकूल महावीर का वर्षावास करना नितान्त स्वाभाविक है, परन्तु यहाँ वर्षावास का बिल्कुल उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण क्या? उचित तो यह मालूम पड़ता है कि यह नगर वैशाली के पास था। अतः वैशाली में वर्षावास करते समय उन्होंने जो उपदेश दिया था उससे कुण्डग्राम के निवासियों ने लाभ उठाया। अतः यहाँ पृथक् रूप से वर्षावास करने का उल्लेख सूत्रग्रन्थों में नहीं मिलता।

(३) प्रव्रज्या के अनन्तर महावीर ने जिन स्थानों पर निवास किया, उन स्थानों की भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे सब स्थान वैशाली के आसपास थे। दीक्षा लेने के दूसरे दिन महावीर ने कोल्लाक संनिवेश में पारणा की। जैन सूत्रों के आधार पर कोल्लाक संनिवेश दो हैं और वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं—एक तो वाणिज्य ग्राम के पास और दूसरा राजगृह के पास। अब यदि वर्तमान जन्मस्थान को ही ठीक माना जाय, तो वहाँ से कोल्लाक संनिवेश बहुत ही दूर पड़ता है जहाँ एक ही दिन में पहुँच कर निवास करने की घटना युक्तियुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। राजगृह-वाला स्थान चालीस मील पश्चिम की ओर पड़ेगा और दूसरा स्थान इससे भी अधिक दूर। अतः

महावीर को वैशाली का निवासी मानना ठीक है क्योंकि यहाँ से कोल्लाक संनिवेश बहुत ही समीप है।

(४) पं० कल्याणविजयजी ने जैन सूत्रों के आधार पर महावीर के चातुर्मास्य के बिताने के स्थानों का बड़ा ही सांगोपांग वर्णन किया है। महावीर ने प्रथम चातुर्मास्य आस्थिक ग्राम में बिताया और दूसरा राजगृह में। राजगृह जाते समय वे 'श्वेताम्बिका' नगरी से होकर गये और तदनन्तर गंगा को पार कर राजगृह में पहुँचे। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि श्वेताम्बिका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय रास्ते में पड़ती थी। यह प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करनी पड़ती थी, यह इन स्थानों की भौगोलिक स्थिति के निरीक्षण से प्रतीत होता है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ बतलाया जाता है वहाँ से ये दोनों बातें ठीक नहीं उतरतीं। वहाँ से श्वेताम्बिका नगरी न तो रास्ते में पड़ती है और न राजगृह जाते समय रास्ते में गङ्गा को पार करने का अवसर आवेगा।

इन सब प्रमाणों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वैशाली ही वर्धमान महावीर की जन्मभूमि थी, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। महावीर की मृत्यु 'पावापुर' में मानी जाती है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि यह स्थान जिला गोरखपुर के पँडरौना के पास 'पप-उर' ही है। संगीति परियायसुत्त (दीघनिकाय ३३वाँ सुत्त) के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ मल्ल नामक गणतन्त्र लोगों की राजधानी थी जिसके नये संस्थागार (संठागार) में बुद्ध ने निवास किया। यह भी पता चलता है कि बुद्ध के यहाँ आने से पहले ही निगंठ नातपुत्त का देहावसान हो चुका था और उनके भक्तों तथा अनुयायियों में मतभेद भी होने लगा था। बौद्ध ग्रन्थों में महावीर 'निगंठ नातपुत्त' के नाम से विख्यात हैं। 'नातपुत्त' तो ज्ञातिपुत्र है। ज्ञाति नामक क्षत्रियवंश में

उत्पन्न होने से यह नाम पड़ा। 'निगंठ' निग्रन्थ है जो संसार के ग्रंथियों से मुक्त होने के कारण 'केवल ज्ञान' सम्पन्न वर्धमान की उस समय की उपाधि प्रतीत होता है।

जैन धर्म की विपुल उन्नति के कारण ये ही वर्धमान महावीर हैं जिनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राम में ५९९ ई० पू० तथा तिरोधान ५२७ ई० पू० पावापुर में हुआ। इनकी जीवन-घटनायें नितान्त प्रसिद्ध हैं। पार्श्वनाथ के द्वारा जिस जैनधर्म की व्यवस्था पहले की गई थी उसमें इन्होंने संशोधन कर समयानुकूल बनाया। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है, पर महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतलाकर उसकी भी गणना महाव्रतों में की है। पार्श्वनाथ वस्त्रधारण करने के पक्षपाती थे, पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियों के वास्ते वस्त्रपरिधान का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आजकल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का विभेद इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से चला आता है।

महावीर ने व्यक्ति के लिए जो सन्देश प्रस्तुत किया है वह सदा मनुष्यों के हृदय में आशा का तथा उत्साह का संचार करता रहेगा। प्राणी अपना प्रभु स्वयं है। उसे अपने कर्मों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति पर आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। जीव स्वावलम्बी है। जीव स्वतन्त्र है। वह 'अनन्त-चतुष्टय' से सम्पन्न रहता है। उसमें अनन्त सामर्थ्य भरा हुआ है। वह इस सामर्थ्य को नहीं जानता, इसीलिए वह संसार में नाना क्लेशों को भोग रहा है परन्तु अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होते ही वह क्लेशमय बन्धनों से मुक्ति पाकर केवली होकर विचरने लगता है। जगत् के कोने-कोने में जीवों की सत्ता मानना, उन्हें किसी प्रकार भी हिंसा न पहुँचाना, मानव के अनन्त सामर्थ्य की पहचान करना—आदि सुन्दर शिक्षायें हमें वैशाली के इस महापुरुष ने सिखलाया है।

इस दिव्य विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ अशक्त नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए, बाद में कुछ होने का नहीं—

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ
जाविंदिया न हायन्ति, ताव धम्मं समायरे ॥

बौद्धधर्म

(१०) बुद्धधर्म का उदय और अभ्युदय

बौद्ध धर्म तथा दर्शन के यथार्थ विस्तृत विवेचन के लिये न तो हमारे पास स्थान है न पर्याप्त साधन। यहाँ इसका सामान्य रूप से ही परिचय करा देना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं। बौद्धधर्म के दो रूप इतिहास के पृष्ठों में दीख पड़ते हैं। एक शुद्ध धार्मिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक ग्रन्थियों को बिना खोले हुए व्यवहार के लिये आवश्यक आचार का सरल प्रतिपादन किया गया है। भगवान् बुद्ध के उपदेश इसी सरल धार्मिक रूप में पाये जाते हैं। दूसरा दार्शनिक रूप है। जब आध्यात्मिक तत्त्व-जिज्ञासा ने आचारमीमांसा को एक प्रकार से गौण बना दिया, तब प्रकाण्ड बौद्ध विद्वानों ने ब्राह्मणदर्शन के अनुकरण पर बुद्ध के सरल उपदेशों की आध्यात्मिक व्याख्या कर शुद्ध तर्क की सहायता से तत्त्वों का गम्भीर अन्वेषण किया तथा बुद्ध-धर्म की धुँधली दार्शनिक रूपरेखा को स्पष्ट दर्शाया। यह दार्शनिक रूप हमें पहले-पहल विक्रम की द्वितीय शताब्दी में अश्वघोष के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है तथा तदनन्तर अनेक शताब्दियों तक उपलब्ध होता चला जाता है। पहले रूप का वर्णन पाली-भाषा में निबद्ध बुद्धागमों—त्रिपिटकों—में मिलता है तथा दूसरे रूप का वर्णन, अधिकांश में, संस्कृत भाषा में प्रणीत ग्रन्थ-रत्नों में दीख पड़ता है। पहले रूप के शुद्ध दार्शनिक न होने पर भी उसमें दार्शनिक आधार का अभाव नहीं है। अतः इस निबन्ध में इन द्विविध रूपों का दर्शन संक्षेप में कराया जायगा। बौद्धधर्म के इस समय इतने महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ या उनके चीनी तथा तिब्बती भाषान्तर मिल गये हैं तथा मिलते जा रहे हैं कि उन सब के वर्णन के लिये एक

अलग पोथा तैयार हो जायगा; अतः यहाँ नितान्त महत्त्वशाली ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के संक्षिप्त परिचय से ही सन्तोष करना होगा।

बुद्ध का जीवन चरित

इस धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध की जीवन-घटनाओं से परिचय प्राप्त करना इस धर्म की विशेषताओं के समझने के लिये आवश्यक है। प्राचीन कोसल जनपद के एक प्रधान नगर कपिलवस्तु में शाक्य लोगों के गण में शाक्य शुद्धोधन की भार्या मायादेवी के गर्भ से ५०५ विक्रम पूर्व वैशाखी पूर्णिमा को लुम्बिनी नामक उद्यान में (वर्तमान नाम रुम्मिनदेई) बुद्ध का जन्म हुआ था। इनका नाम रक्खा गया सिद्धार्थ। जन्म के सात दिन के भीतर ही माता का देहान्त हो गया। उस समय के नियमानुसार शिक्षणीय विद्याओं में पारङ्गत होकर सिद्धार्थ ने २९ वर्ष सांसारिक जीवन बिताया। इस बीच में इनका विवाह भी हो गया था तथा पुत्र के मुखकमल के अवलोकन करने का भी इन्हें सौभाग्य प्राप्त हो गया था, पर हृदय में सांसारिक विषयों से अखण्ड वैराग्य जाग रहा था। अतः युवती पत्नी के प्रेममय आलिङ्गन, नवजात शिशु के आनन्दमय अवलोकन तथा सांसारिक विशाल वैभव को लात मारकर २९ साल की उम्र में सिद्धार्थ ने अभिनिष्क्रमण किया। छः साल तक मगधदेश के अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की तथा कठोर तपस्या में अपना शरीर गला डाला। इस मार्ग की आध्यात्मिक उन्नति में व्यर्थता विचार कर सिद्धार्थ ने बुद्धगया के पास 'उरुवेल' नामक ग्राम में चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया तथा उसी दिन से 'बुद्ध' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। आध्यात्मिक जगत् की यह महत्त्वपूर्ण घटना ४७१ वि० पू० संवत् की वैशाख पूर्णिमा को घटित हुई, जिस समय सिद्धार्थ केवल पैंतीस वर्ष के युवक थे। उसके अनन्तर आषाढ़ी पूर्णिमा को वे काशी के समीपस्थ मृगदाव (इसिपत्तन = सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पाँच पञ्चवर्गीय भिक्षुओं

के सामने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया तथा अपनी शेष आयु इस धर्म के प्रचार में बिताथी। अपने नगर के गणराज्य के आदर्श पर इन्होंने भिक्षुओं के लिये संघ की स्थापना की तथा जीवन को सुधारने के लिये 'विनय' तथा 'धर्म' के उपदेशों को दिया। मगध के राजा बिम्बसार तथा अजातशत्रु ने इनके अहिंसापरक उपदेशों को बड़े ध्यान से सुना तथा इस धर्म के प्रचार में हाथ बटाया। अन्ततः ४२६ वि० पू० संवत् की वैशाखी पूर्णिमा को अस्सी साल की आयु में मल्लगणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में भगवान् बुद्ध का निर्वाण सम्पन्न हुआ[1]। इस प्रकार बुद्धधर्म के इतिहास में वैशाखी पूर्णिमा की तिथि बड़ी पवित्र मानी जाती है, क्योंकि उसी तिथि को बुद्ध के जीवन की तीन घटनाएँ—जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति—सम्पन्न हुई हैं। भगवान् बुद्ध के द्वारा पवित्रित किये जाने से जन्म-स्थान लुम्बिनी, अनुत्तर सम्यक् संबोधि की प्राप्ति का स्थान बोधगया, अनुत्तर धर्मचक्र के प्रवर्तन का स्थान सारनाथ तथा अनुपाधिशेष निर्वाण धातु की प्राप्ति का स्थान कुशीनगर—बौद्धधर्म के चार तीर्थस्थल माने जाते हैं।

पाली त्रिपिटक

भगवान् बुद्ध के द्वारा रचित किसी भी ग्रन्थ का पता नहीं चलता। उनके उपदेश जनता की बोलचाल की भाषा में मौखिक हुआ करते थे। उस भाषा का नाम मागधी या पाली दिया जाता है। इसी पाली भाषा में बुद्ध के उपदेशों के संग्रह-स्वरूप तीन संग्रह ग्रन्थों अथवा पिटकों की उपलब्धि होती है। बुद्ध की शिक्षाएँ दो प्रकार की होती थीं—एक तो धर्म के सामान्य रूप के विषय में तथा दूसरी संघभुक्त भिक्षु तथा भिक्षुणियों के नियम के विषय में। पहले उपदेश को 'धर्म' या सुत्त

---

१ बुद्ध के अन्तिम काल के विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य महापरिनिब्बानसुत्त (दीघनिकाय का १६वाँ सुत्त)

(सूत्र या सूक्त) कहते हैं तथा दूसरे उपदेश 'विनय' नाम से पुकारे जाते हैं। सुत्त तथा विनय के भीतर बुद्ध के समस्त उपदेश सम्मिलित कर दिये गये हैं। ये ग्रन्थ भिक्षुओं को याद थे। अतः ४२६ वि० पू० संवद् में बुद्ध की निर्वाणप्राप्ति के अवसर पर इनमें किसी प्रकार के भ्रम या अशुद्धि की आशंका से महाकाश्यप के सभापतित्व में बौद्ध भिक्षुओं का प्रथम सम्मेलन (प्रथम संगीति) राजगृह में हुआ, जिसमें बुद्ध के सहचर 'आनन्द' के सहयोग से 'सुत्तपिटक' तथा नापित-कुलोत्पन्न उपालि के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। स्वयं सुत्तपिटक के भीतर संक्षिप्त दार्शनिक अंश भी उपलब्ध होता है, जिसे 'मातिका' (मात्रिका) के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं मात्रिकाओं के पल्लवीकरण का परिणाम आजकल उपलब्ध अभिधम्म (अभिधर्म = अध्यात्मविषय) पिटक है। अभिधर्म बुद्धधर्म का विशुद्ध दार्शनिक पिटक है, जिसमें सुत्तपिटक में उल्लिखित बुद्ध के उपदेशों के लिये दार्शनिक भित्ति तथा आधार तैयार किया गया है। अशोक के समय (वि० पू० तृतीय शतक) तक तीनों पिटकों की सृष्टि हो चुकी थी, क्योंकि उनके पुत्र महेन्द्र तथा कन्या संघमित्रा के उद्योग से लंकाद्वीप में तथागत के धर्म के साथ इन पिटकों का भी प्रथम प्रवेश उसी समय हुआ। आजकल उपलब्ध पाली पिटक बौद्धधर्म में सबसे प्राचीन स्थविर-निकाय के साथ सम्बन्ध रखता है। अतः बुद्ध के आचार तथा दार्शनिक विचार की हमारी जानकारी इन्हीं त्रिपिटकों के ऊपर अवलम्बित है।

इन संग्रह ग्रन्थों का विस्तार इस प्रकार है—

(१) सुत्तपिटक—पाँच निकाय (सुत्तसमूह) में विभक्त हैं— दीघनिकाय ३४ सुत्त, मज्झिमनिकाय १५२ सुत्त, संयुत्तनिकाय ५६ संयुत्त, अंगुत्तरनिकाय ११ निपात तथा अन्तिम निकाय है खुद्दकनिकाय, जिसमें निम्नलिखित १५ छोटे-मोटे ग्रन्थ सम्मिलित माने जाते हैं— (१) खुद्दकपाठ, (२) धम्मपद (गौतमबुद्ध की ४२३ उपदेशात्मक

गाथाओं का सुप्रसिद्ध संग्रह), (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक (बुद्ध के पूर्वजन्म सम्बन्धिनी ५५० कथाएँ), (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अपदान, (१४) बुद्धवंस तथा (१५) चरियापिटक। इन सब में मज्झिम-निकाय बुद्ध के सिद्धान्तों की जानकारी के लिये विशेष महत्त्व रखता है।

(२) विनयपिटक—भिक्षु तथा भिक्षुणियों के नियम एवं आचार तथा उनके इतिहास विषयक ग्रन्थ। इसके तीन प्रधान खण्ड हैं—(१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, जिसके दो अवान्तर भेद हैं—(क) भिक्खु पातिमोक्ख तथा (ख) भिक्खुनी विभंग, (२) खन्धक—जो इस पिटक का प्रधान भाग है तथा जिसके दो अवान्तर विभेद हैं—(क) महावग्ग तथा (ख) चुल्लवग्ग और (३) परिवार।

(३) अभिधम्मपिटक—सुत्तपिटक में उल्लिखित तत्त्वप्रति-पादक अंशों का विस्तार इस पिटक में किया गया है। बौद्धदर्शन के आध्यात्मिक रहस्यों के जानने के लिये यही पिटक सबसे अधिक उपयोगी है। तत्त्वों के विषय में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है। इसमें सात ग्रन्थ हैं—

(१) पुग्गलपञ्ञत्ति—व्यक्तियों का वर्णन है। साथ ही साथ मनोभावों की संक्षिप्त, पर सुन्दर विवेचना की गयी है।

(२) धातुकथा—सृष्टि के पदार्थों के स्वरूपों का यथार्थ वर्णन किया गया है (धातु = पदार्थ)।

(३) धम्मसंगणि—मानसिक स्थिति का विस्तृत तथा विद्वत्ता-पूर्ण वर्णन। बौद्धदर्शन के मनोविज्ञान के जानने के लिये नितान्त उपादेय।

(४) विभंग—पूर्व ग्रन्थ का पूरक ग्रन्थ है। ज्ञान के विविध प्रकारों का वर्णन है। इन्द्रियजन्य ज्ञान से लेकर बुद्ध के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान

तक के समस्त अवान्तर ज्ञानों का सूक्ष्म विवरण दिया गया है। साथ ही साथ ज्ञानमार्ग के विघ्नों का संक्षिप्त वर्णन भी है।

(५) पट्ठानपकरण—अध्यात्मविषयक प्रश्नों का विवेचन।

(६) कथावत्थु—बौद्धसम्प्रदाय के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। आत्मा, निर्वाण, अर्हत् पद की प्राप्ति, बुद्ध की दस अमानुषिक शक्तियाँ आदि प्रश्नों के विषय में पाखण्डमत का खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ मोग्गलिपुत्त तिस्स (३रा. शतक वि० पू०) की रचना बतलाया जाता है।

(७) यमक—सब प्रश्नों पर अस्ति तथा नास्तिरूप से द्विविध विचार।[1]

बुद्ध के उपदेश

बुद्ध मुख्यतया एक धार्मिक सुधारक तथा आचार के शिक्षक के रूप में पाली त्रिपिटिकों में वर्णित किये गये हैं। उस समय इस देश के प्रचलित धर्म में जो बुराइयाँ दिखलायी पड़ीं, उनका दूर करना उनके धर्म का प्रधान उद्देश्य था। वे अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने वाले, शुद्ध तर्क की सहायता से आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन करने वाले दार्शनिक न थे। गृहस्थ जीवन में रहते समय उनके कोमल हृदय पर दुःख के अस्तित्व ने गहरा प्रभाव डाला। रोगी, वृद्ध तथा मरे हुए आदमी को देखने से उन्हें निश्चय हो गया कि दुःख का चक्कर वास्तविक है और कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो इस चक्कर में पड़ कर न पीसा जाता हो। अतः इस क्लेश से मुक्ति पाना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इस कारण आध्यात्मिक तत्त्वों के विषय में जब कोई प्रश्न

---

१. विषय के लिये देखिये—
विन्टरनित्स—हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर (भाग २)
विमला चरण ला—हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर (भाग २)

करता था, तब उसे जटिल तथा तर्कानुसार अनिश्चित बतला कर टाल दिया करते थे। इस टालमटोल करने का कारण उनकी तद्विषयक अज्ञानता न थी, प्रत्युत मानव-जीवन की विषम समस्याओं के हल करने में अनुपयुक्त तथा अनावश्यक समझना ही था। पाली ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसङ्गों की पर्याप्त चर्चा मिलती है। मज्झिमनिकाय[1] के वर्णनानुसार मालुंक्यपुत्त ने श्रावस्ती के जेतवन में विहार करते समय बुद्ध से इन दस मेण्डक[2] प्रश्नों को पूछा था—(१) क्या यह लोक शाश्वत है? (२) क्या यह लोक अशाश्वत है? (३) क्या यह लोक अन्तवान् है? (४) क्या यह लोक अनन्त है? (५) क्या शरीर तथा जीव एक ही—अभिन्न वस्तु हैं? (६) अथवा शरीर भिन्न है और जीव दूसरा है? (७) क्या संबोधि को प्राप्त करने वाले पुरुष मरने के बाद होते हैं? (८) अथवा ऐसे पुरुष मरने के बाद नहीं होते? (९) अथवा मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते? (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते? इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिये अत्यन्त आग्रह किये जाने पर बुद्ध ने इन्हें अव्याकृत (अव्याकरण = कथन के अयोग्य) बतलाया; इनका उत्तर ठीक-ठीक ढंग से दिया नहीं जा सकता; क्योंकि आचारमार्ग के लिये वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (=लोकोत्तर ज्ञान), सम्बोध (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी मुक्ति) उत्पन्न करने में इनकी जानकारी की तनिक भी जरूरत नहीं है। सब से विकट तथा प्रत्यक्ष विषय क्लेश तथा उसका निवारण है।

---

१. द्रष्टव्य चूलमालुंक्यसुत्तन्त (६३वाँ सूत्र), मज्झिमनिकाय पृ० २५१—२५३।

२. 'मेण्डक प्रश्न' उन विषम प्रश्नों को कहते हैं, जिनका निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन्हें पश्चिमी न्याय के सुप्रसिद्ध 'हार्न्स ऑफ ए डाइलेमा' का प्रतीक समझना चाहिये। द्रष्टव्य 'मिलिन्द-पन्हो'।

इस विषय में अनुपयोगी होने के कारण इनका हल करना अनावश्यक है। यदि कोई मनुष्य विष से बुझे हुए बाण से घायल पड़ा कराहता हो और उसके सगे-सम्बन्धी उसकी चिकित्सा के लिये विषवैद्य को ले आने के लिये उद्यत हों, तब उसका बाण के बनाने वाले की जाति, रूप, रंग, नाम, गोत्र, निवासस्थान आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आग्रह करना कितना उपहासास्पद है। लौकिक बुद्धि पुकार कर सलाह देती है कि वह काल शरीर में धँसे हुए तथा असीम पीड़ा पहुँचाने वाले उस बाण को हाथ से झट से निकाल बाहर करने का है, इस प्रकार के व्यर्थ के तत्त्व-विचार का नहीं। लौकिक रोग का यह दृष्टान्त तात्त्विक चिन्ता को व्यर्थ बतलाने के लिये पर्याप्त है।

मुख्य विषय है कि इस लोकमें दुःखकी सत्ता है; यह इतनी वास्तविक है कि उसका कोई अपलाप नहीं कर सकता। यदि दुःख है तो उसकी उत्पत्ति की चिन्ता करनी चाहिये, क्योंकि बिना उत्पत्ति को जाने उसके निरोध (रोकने) के लिये प्रयत्न नहीं किया जा सकता। निरोध के बाद विचारणीय विषय उसकी उपलब्धि कराने वाले मार्ग का है। अतः दुःख की इन चतुर्विध समस्याओं का सुलझाना ही मानवमात्र के लिये प्रधान कार्य है। बुद्ध ने इन समस्याओं को समझा और उनकी गुत्थियोंको सुलझाया, इसीलिये वे सम्यक् संबुद्ध (अच्छी प्रकार जागने वाले) के नाम से पुकारे जाते हैं। इन समस्याओं का उत्तर बुद्ध ने दिया है—(१) इस संसार में जीवन दुःख से परिपूर्ण है; (२) उस दुःख का कारण विद्यमान है; (३) इस दुःख से वास्तविक छुटकारा मिल सकता है; (४) इस निरोध के लिये उचित उपाय या मार्ग है। इन्हें ही बुद्ध-धर्म में आर्यसत्य[1] के नाम से पुकारते हैं—(१) दुःख, (२) दुःखसमुदय,

---

१. द्रष्टव्य चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति (पृ० ४७६)
इन सत्यों के पहले 'आर्य' विशेषण लगाने का अभिप्राय यह है कि

(३) दुःख-निरोध, (४) दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्[1]। बुद्धधर्म के प्राथमिक स्वरूप को जानने के लिये इन सत्यों का परिचय पाना आवश्यक है।

आर्य-सत्य

(१) दुःखम्

आर्यसत्यों में प्रथम दुःखरूप सत्य लोक के अनुभव पर अवलम्बित है। इस जगतीतल के प्राणियों पर दृष्टिपात करने से सब प्राणी रोग, जरा तथा मरण के शिकार होते दिखलायी पड़ते हैं। यह इतना स्थूल है कि इसका अपलाप हो ही नहीं सकता। ब्राह्मण दार्शनिकों के समान

विद्वान् लोग ही इनकी सत्यता की उपलब्धि करते हैं। पामरजन जीते हैं, मरते हैं, पर इन तत्त्वों पर नहीं पहुँच पाते।

ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतलसंस्थं न विद्यते पुंभिः।
अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरति च पीडां च॥
करतलसदृशो बालो न वेत्ति संस्कारदुःखतापक्ष्म।
अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्विजते गाढम्॥

१. इन आर्य-सत्यों की खोज करने के कारण सिद्धार्थका नाम 'बुद्ध' हुआ, ऐसा बतलाया जाता है; पर वैद्यकशास्त्र के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने वाला यह तत्त्व बुद्ध से पहले का है। द्रष्टव्य सांख्यप्रवचन भाष्य (पृ० ६)—'तदिदं मोक्षशास्त्रं चिकित्साशास्त्रवत् चतुर्व्यूहम्। यथा हि रोग आरोग्यं रोगनिदानं भैषज्यम् इति चत्वारो व्यूहाः समूहाश्चिकित्सा-शास्त्रस्य प्रतिपाद्याः। तथैव हेयं हानं हेयहेतुर्हानोपायश्चेति चत्वारो व्यूहा मोक्षशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति॥'

वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध का एक नाम पड़ा महाभिषक्=बड़ा वैद्य। बौद्ध साहित्य में भी भैषज्य-नामधारी अनेक ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है।

बुद्ध ने भी प्राणियों के जीवन को अशान्त बनानेवाले इस क्लेश की सत्ता का पता लगाया, पर उनकी विशेषता इसके निरोध तथा तदुपायभूत मार्ग की विवेचना में है।

(२) दुःखसमुदयः

दूसरा सत्य दुःख के कारण की खोज करनी है। इसके लिये केवल एक ही कारण नहीं खोज निकाला गया, प्रत्युत कारण-परम्परा का अन्वेषण नये प्रकार से बुद्ध ने किया, जिसमें एक कारण दूसरे कारण के आधार पर अवलम्बित रहता है। सबसे बड़ा दुःख जरा-मरण (बुढ़ापा तथा मृत्यु) है। इसकी उत्पत्ति का कारण जाति (जन्म ग्रहण करना) है। यदि इस संसार में प्राणी का जन्म ही नहीं होता, तो तज्जन्य वृद्धता तथा मरण के क्लेश सहने का अवसर ही नहीं आता। इस जाति का कारण है भव[1]। भव उन कर्मों को कहते हैं, जिनके कारण प्राणी का पुनर्भव—पुनर्जन्म होता है। यदि ऐसे फलोन्मुख कर्मों का सर्वथा अभाव रहता, तो जन्म के पचड़े में आकर क्लेश सहने का मौका ही न आता। इस भव का कारण है—उपादान[2] अर्थात् आसक्ति। प्राणी की आसक्ति के विषय अनेक हैं, कभी वह स्त्री में आसक्ति (कामोपादान) धारण करता है, कभी शील-व्रत में। पर आत्मा के नित्यत्व में उसकी आसक्ति सब से प्रधान है। आत्मा को नित्य मानना ही अनेक स्वार्थ तथा हिंसा-

१. इस शब्द के अर्थ के विषय में गहरा मतभेद है। यहाँ अभिधर्म-कोशसम्मत अर्थ दिया गया है—'स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः।'
(अभिधर्मकोश ३ । २४)

'पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च।'
(चन्द्रकीर्ति—माध्यमिकवृत्ति पृ० ५६५)

२. उपादान तथा तृष्णा के अर्थ के लिये देखिये चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ५६५।

मूलक कार्यों का निदान है। इस उपादान की उत्पत्ति रूपादि पञ्च विषयों में उत्पन्न तृष्णा (इच्छा) के कारण होती है। यह तृष्णा कारण होते हुए भी वेदना का कार्य है। वेदना के कारण तृष्णा का आविर्भाव होता है। इन्द्रियजन्य अनुभव वेदना के नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य वस्तु के अनुभव के बिना उसकी उपलब्धि के लिये तृष्णा की उत्पत्ति ही असंगत है। इस वेदना का कारण स्पर्श है—इन्द्रिय तथा विषय के सम्पर्क की 'स्पर्श' संज्ञा है। अनुभव प्राप्त करने का प्रधान साधन है विषय के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क—स्पर्श[1]। यह स्पर्श सिद्ध नहीं होता, यदि वस्तुग्रहण करने में समर्थ पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन की सत्ता स्वीकृत न होती। अतः यह षडायतन स्पर्श का कारण है और वह स्वयं नाम-रूप का कार्य है। नाम-रूप का अर्थ है प्राणी का दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान-विशेष। पर यह नाम-रूप ही नहीं होता यदि इसमें विज्ञान (या चैतन्य) का अभाव होता। माता के गर्भ से ही यह चित्तधारा या चैतन्य भ्रूण के नाम-रूप को सिद्ध होने में सहायक होती है। अतः इसे उसका कारण बतलाना उचित ही है। यह विज्ञान संस्कार (पूर्वजन्म के कर्म तथा अनुभव से उत्पन्न संस्कार) के कारण उत्पन्न होता है, जो स्वयं अज्ञान—तथ्य बात के न जानने—के कारण अपनी सत्ता धारण करता है। इस प्रकार समस्त दुःखों का आदि, मूल कारण अविद्या ही है। यदि जगत् की सत्य बातों का ज्ञान प्राणी को होता तो वह उन कार्यों के अनुष्ठान से ही विरत रहता, जिनका फल भोगने के लिये उसे

---

१. ब्राह्मण दार्शनिक ग्रन्थों में भी स्पर्श का यह अर्थ स्वीकृत है। द्रष्टव्य गीता—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। (२।१४)
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। (५।२२)

इस संसार-चक्र में बारंबार आना पड़ता है। अतः वास्तव में अविद्या ही इस विशाल भवप्रासाद की नींव है। उसकी दृढ़ता पर इसकी सत्ता है, उसके मूलोच्छेदन से यह प्रासाद बालू की भीत के समान तुरंत ही भूमिसात् होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है। अतः बुद्ध ने कारण परम्परा की गहरी छानबीन करके इस द्वितीय आर्यसत्य का पता लगाया—दुःख का समुदय।

इस कारण–परम्परा में १२ कारणों का समुच्चय है—जरामरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार तथा अविद्या। इनमें पूर्व-पूर्व कार्य के लिये उत्तर-उत्तर कारण दिये गये हैं। यही है बौद्धों का सुप्रसिद्ध भवचक्र तथा द्वादश[1] निदान। आजकल के बौद्ध भिक्खु भी अपने हाथ में चरखी चला-चलाकर इसी तत्त्व की शिक्षा दिया करते हैं। इन द्वादश निदानों का सम्बन्ध प्राणी के तीन जीवनोंसे है। हमारा वर्त्तमान जीवन भूतजीवन का कार्य है, पर भविष्य जीवन का कारणभूत है। जैसे कर्म हमने प्राचीन जन्म में किये हैं, वैसे हम इस जन्म में हैं और इस जन्म में जैसे कर्म कर रहे हैं, वे अगले जन्म की रूपरेखा को निष्पन्न करने के कारण हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन प्राचीन कर्मसमुदाय का कार्यरूप तथा अग्रिम

---

१ निदानों की संख्या के विषय में बौद्धग्रन्थों में मतभेद दीख पड़ता है। दीघनिकाय पृ० ११०–११३ के महानिदानसुत्त में केवल नौ निदानों की परम्परा का वर्णन मिलता है; उसमें षडायतन, संस्कार तथा अविद्या के नामों का उल्लेख नहीं पाया जाता। पर मज्झिमनिकाय के ३८ वें सुत्तन्त महातण्हासंक्षय (महातृष्णासंक्षय) में निदानों की उपरिनिर्दिष्ट संख्या तथा क्रम का सविस्तर वर्णन दिया गया है। इन निदानों के अर्थ में बौद्धग्रन्थों में बहुत ही मतभेद दिखायी पड़ता है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ३। १९–२५।

जन्म का कारण माना गया है। इन निदानों में आदि दो निदानों—अविद्या तथा संस्कार का सम्बन्ध भूतकाल के जन्म से तथा अन्तिम दो निदानों—जाति तथा जरा-मरण का सम्बन्ध अगले जन्म से है, मध्य के ८ निदानों (विज्ञान से लेकर भव तक) का सम्बन्ध हमारे इस वर्तमान जीवन से है।[1]

इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह बुद्ध-धर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इस शब्द के अर्थ के विषय में समधिक मतभेद दीख पड़ता है।[2] पर इसका सर्वमान्य अर्थ है प्रतीत्य—प्रति + इ (जाना) + ल्यप्—किसी वस्तु के होने पर समुत्पाद (सम्, उत् + पद् + घञ्) किसी अन्य की उत्पत्ति[3] अर्थात् सापेक्षकारणवाद। बुद्धधर्म के अन्यान्य सिद्धान्तों के मूल में यही प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त है।

(३) दुःखनिरोधः

तीसरे आर्यसत्य का नाम दुःखनिरोध है। अर्थात् सत्तात्मक तथा कारण-कलाप से समुत्पन्न दुःख का आत्यन्तिक तिरस्कार किया जा सकता है। कारण की सत्ता से कार्य की सत्ता बनी हुई है। यदि कारण का निरोध कर दिया जाय, तो आप-से-आप चलनेवाली मशीन की तरह

---

१ स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः ॥
(अ० को० ३ । २०)

२ द्रष्टव्य चन्द्रकीर्ति—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ५।

३ प्रतीत्यशब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते।
समुत्पादः पदिः प्रादुर्भावार्थ इति समुत्पादशब्दः प्रादुर्भावे वर्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः—चन्द्रकीर्तिः।

कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। सारे क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। अतः विद्या के द्वारा अविद्या का निरोध कर देने से दुःख का निरोध स्वतः हो जायगा।

(४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्

बुद्ध ने मृगदाव में दिये गये प्रथम व्याख्यान में ही इस मार्ग की रूपरेखा निर्धारित कर दी। मार्गनिर्धारण में उनके अपने प्रवृत्ति-मार्गीय तथा निवृत्तिमार्गीय जीवन ने खूब प्रभाव जमाया। एक ओर चैन की बंसी बजानेवाले, सुख-समृद्धि के आनन्द में अपना जीवन-यापन करनेवाले धनी-मानी लोगों के जीवन की ओर उनकी दृष्टि गयी, दूसरी ओर कठिन तपस्या तथा घोर व्रत के अनुष्ठान से ईश्वरीय देन—इस कञ्चनमयी काया—को सुखाकर काँटा बना डालनेवाले तपस्वियों के नियम-पालन की ओर उनकी नज़र गयी। इन दोनों जीवनों का फल क्लेशमय ही प्रतीत हुआ। इसलिये इन दोनों छोरों को छोड़कर उन्होंने सुनहले मध्यम-मार्ग का अवलम्बन किया। इस तरह आचारपद्धति के लिये बुद्ध ने 'मध्यमप्रतिपदा' = मध्यमार्ग को खोज निकाला।

इस मार्ग में आत्मशुद्धि के लिये आठ नियमों के अनुष्ठान की व्यवस्था की है, अतः इसे आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग की संज्ञा प्राप्त हुई है। ये आठ नियम निम्नलिखित हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। चारों आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान सम्यक् दृष्टि कहलाता है। तत्त्वज्ञान का सहायक सम्यक संकल्प है। संकल्प को शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है और इसके लिये उसमें किसी प्रकार की कामना, द्रोह तथा हिंसा के भाव न होने चाहिये। संकल्प को व्यवहार में उतारना चाहिये। झूठ, चुगली, बकवाद तथा कटुवचन से विरहित वाणी सम्यक् वचन कही जा सकती है। हिंसा तथा दुराचार को छोड़ना

जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है न्यायपूर्ण सच्चे व्यवहार से जीविका उपार्जन करना। इतने से ही काम नहीं चलता बल्कि जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में भलाई-बुराई, कर्तव्य तथा कामना के द्वन्द्वयुद्ध में सदा लड़ने के लिये भी तैयार रहना चाहिये। इस प्रकार अनुत्पन्न बुराइयोंकी उत्पत्ति न होने देने के लिये तथा उत्पन्न बुराइयों के विनाश के लिये तथा भलाई की वृद्धि के लिये साधक की ओर से दृढ़ निश्चय तथा उद्योग किया जाना सम्यक् व्यायाम के अन्तर्गत आता है। इसके साथ-साथ अपने शरीर, चित्त, वेदना आदि के अशुचि तथा अनित्य स्वरूप की यथार्थ उपलब्धि करके लोभ तथा चित्तसन्ताप से किनारा कसना भी साधक के लिये आवश्यक है। इसे ही सम्यक् स्मृति के नाम से पुकारते हैं[1]। इस प्रकार कायिक, वाचिक तथा मानसिक नियमन का अन्तिम परिणाम होना चाहिये सम्यक् समाधि। अर्थात् सुख-दुःख, राग-द्वेष के विषम द्वन्द्वों का विनाश होने से चित्त का अपना शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रतारूप धारण करना समाधि की पराकाष्ठा है। उसी दशा में निर्वाण का सद्यः साक्षात्कार किया जाता है।

बुद्ध के आचारमार्ग का सूत्र यही है—

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त-परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

(धम्मपद १४।५)

अर्थात् समस्त पापों का न करना, पुण्यों का सञ्चय करना तथा अपने चित्त को परिशुद्ध (पर्यवदापन) करना—बुद्ध का यही अनुशासन है।

---

१ द्रष्टव्य दीघनिकायका महासति—पट्ठानसुत्त, पृ० १९०–१९३; मज्झिमनिकायका १० वाँ सुत्त।

(ख)

बुद्धधर्म का अभ्युदय

बौद्धधर्म के विभिन्न वाद

वि० पू० ४२६ में भगवान् गौतमबुद्ध के निर्वाण के अवसर पर उनके प्रधान शिष्यों की सहायता से राजगृह में प्रथम संगीति निष्पन्न हुई, जिसमें सुत्त तथा विनयपिटकों का रूप निर्धारण कर लिपिबद्ध किया गया ; पर सौ वर्ष के भीतर ही विनय के कठोर नियमों को लेकर एक प्रबल विरोधी मतवाद खड़ा हो गया। इस विरोध का झंडा ऊँचा करनेवाले थे वज्जिदेशीय भिक्षु, जिन्हें वज्जिपुत्तक, वज्जिपुत्तिम तथा वत्सी-पुत्रीय के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं के विरोध की शान्ति के लिये वैशालि की द्वितीय संगीति ३२६ वि० पू० में की गयी। पर प्राचीन विनयों के पक्षपाती भिक्षुओं के सामने अपनी चलती न देख कर भिक्षुओं ने कौशाम्बी (प्रयाग जिले के वर्तमान 'कोसम' नगर) में दस हजार भिक्षुओं के महासंघ के साथ अपनी संगीति अलग की। उसी दिन से बुद्धधर्म में दो प्रधान भेद खड़े हो गये—प्राचीन विनयनियमों को मानने वाले स्थविरवादी कहलाये तथा विनयों में नवीन संशोधनों को स्वीकार करनेवाले भिक्षु महासंघ के कारण महासंघिक कहलाये। इस संगीति के १०० वर्ष के अनन्तर ही १८ भिन्न-भिन्न मत उठ खड़े हुए। लोकप्रियता का यही मूल्य है। बुद्धधर्म में अनेक भिन्न प्रकृति के लोग सम्मिलित होने लगे, जिन्हें बुद्ध के मूल नियमों का अक्षरशः पालन कष्टकारक प्रतीत होने लगा और जो अनेक सिद्धान्तों के परिवर्तन के पक्षपाती थे, इन्हीं मतवादों का निर्णय करने के लिये सम्राट् अशोक के समय तृतीय संगीति की स्थापना महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई।

इन अष्टादश निकायों के नाम तथा पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में बौद्धग्रन्थों में खूब वैमत्य दीख पड़ता है। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश-निकायशास्त्र' नामक नवीन ग्रन्थ की इन्हीं निकायों के सिद्धान्त के विषय में रचना कर इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये खूब प्रयत्न किया; पर आचार्य वसुमित्र[1] तथा आचार्य भव्य के द्वारा उल्लिखित तथा दीपवंस[2] और कथावत्थु की अट्ठकथा में निर्दिष्ट इन निकायों के नाम तथा सम्बन्ध की विषमता आज भी बनी हुई है। अट्ठकथा के अनुसार इन अष्टादश निकायों की स्थिति इस प्रकार थी—
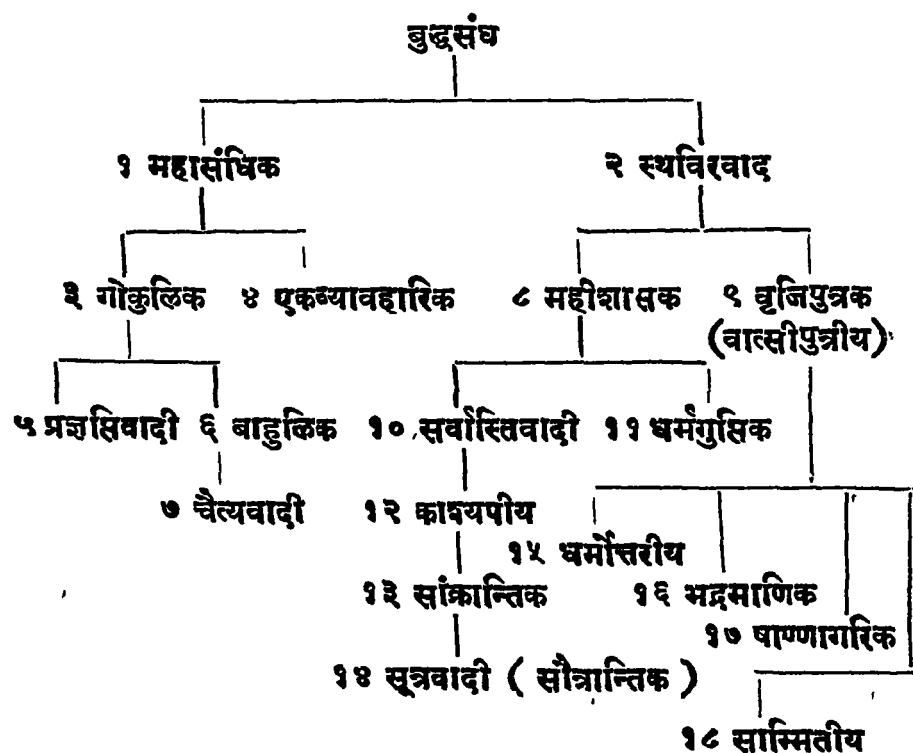
१. वसुमित्र तथा भव्य की सूची के लिये देखिये।
—कथावत्थु के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ३६, ३७।

२. दीपवंस की सूची के लिये देखिये अभिधर्मकोश भूमिका पृ० ४।

इन अष्टादश निकायों की उत्पत्ति अशोक से पहले ही हो चुकी थी; पर उनके बाद भी इस मतवाद का प्रवाह रुका नहीं, प्रत्युत बुद्धधर्म के विपुल प्रसार के साथ-साथ विभिन्न सिद्धान्तोंके कारण नवीन सम्प्रदायों-की उत्पत्ति तथा पुष्टि होती ही रही। कथावत्थु में इन अवान्तर तथा अपेक्षाकृत नवीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का भी वर्णन उपलब्ध होता है। चैत्यवादी सम्प्रदाय से आन्ध्रभृत्य राजाओं के राज्य में विस्तार पाने वाले 'अन्धक' सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। आन्ध्रभृत्यों की राजधानी धान्यकटक (जिला गुंटूर का धरनीकोट नगर) इस सम्प्रदाय का केन्द्र-स्थल था। इसी 'अन्धक' सम्प्रदाय से कालान्तर में ई० पू० प्रथम शताब्दी में चार अन्य सम्प्रदायों का जन्म हुआ—पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक तथा सिद्धार्थक। धान्यकटक के स्तूप का नाम ही 'महाचैत्य' था[1], जिसके कारण वहाँ का सम्प्रदाय चैत्यवादी कहलाया। 'राजगिरिक' तथा 'सिद्धार्थक' नामकरण के कारण का पता नहीं चलता; पर पूर्वशैलीय तथा अपरशैलीय सम्प्रदाय, भोट ग्रन्थों के आधारपर, धान्यकटक के पूर्व तथा पश्चिम में होने वाले पर्वतों के ऊपर स्थित विहारों के कारण तत्तत् नाम से अभिहित हुए हैं। अन्धकों की एक और शाखा थी जिसे वैपुल्यवादी या वेतुल्लवादी के नाम से पुकारते थे। इन अन्धक सम्प्रदायों तथा वैपुल्यवाद के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण हो जाने से महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

इन विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का परिचय पाने के लिये सर्वोपयोगी पालीग्रन्थ 'कथावत्थु' है। पर स्थानाभाव के कारण इन सब सिद्धान्तों का वर्णन यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटग्रन्थों में इन

---

१. श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि ॥
—मञ्जुश्रीमूलकल्प (दशम पटल)।

अष्टादश निकायों में से चार सम्प्रदायों को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है—(१) आर्य-सर्वास्तिवाद, (२) महासंघिक, (३) आर्य-साम्मितीय तथा (४) आर्य-स्थविर। अधिककालव्यापी होने के कारण ये चार ही प्रधान सम्प्रदाय हैं, जिनके भीतर उपरिनिर्दिष्ट अष्टादश निकायों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। ब्राह्मण दार्शनिकों (शङ्कराचार्य, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र आदि) के ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का उल्लेख भी इनकी प्रधानता तथा महत्ता प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है। आर्य-स्थविरवाद बुद्ध के मूल उपदेशोंकोमाननेवाला सम्प्रदाय है, जिससे अनेक विनयगत नियमों में शिथिलता स्वीकार कर महासङ्घिक सम्प्रदाय सबसे प्रथम पृथक् हुआ। पालीत्रिपिटकों में उल्लिखित सिद्धान्त स्थविरवाद के ही माने जाते हैं। महासङ्घिकों के स्वतन्त्र सिद्धान्तों का वर्णन भी उनके विशिष्ट ग्रन्थों में मिलता है। इनके मन्तव्यानुसार बुद्ध लोकोत्तर (अलौकिक) थे; सांसारिक (साश्रव) धर्मका स्पर्श उनसे तनिक भी न था; इतिहास-प्रसिद्ध शाक्यमुनि लोकानुवर्तनके निमित्त उस लोकोत्तर बुद्ध का अवतार धारण करने वाले व्यक्तिविशेष थे। बुद्ध सर्वशक्तिमान् हैं और वे सदा सत्यभाषण किया करते हैं। बुद्ध अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं; उनमें आकाश के किसी भी भाग में व्यापक होने की शक्ति है। वे इद्धि (विशेष शक्ति) के द्वारा नैसर्गिक नियमों को रोक सकते हैं। मनुष्य को योगक्रिया की सहायता से दीर्घजीवन प्राप्त करने की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। पर सबसे विशेषता थी बोधिसत्त्व[1] की कल्पना। स्थविरवाद के अनुसार अर्हत् का पद ही सर्वश्रेष्ठ था, पर महासंघिकों के अनुसार अर्हत्पद प्राप्त करने पर भी एक प्रकार का अज्ञान अवशिष्ट रहता ही है, जिसे वे दूर नहीं कर सकते।

---

१. महासंघिक आदि सम्प्रदायों के मतवाद के लिये देखिये 'कथावत्थु' का अंग्रेजी अनुवाद पृ० १८–२७।

सर्वास्तिवादियों के अपने खास ग्रन्थ थे, जिनमें अनेक आजकल उपलब्ध हो गये हैं। इनके ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में मिलते हैं। कश्मीर इनका केन्द्रस्थल था, जहाँ से ये अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे। इनके सिद्धान्तानुसार इस जगत् की प्रत्येक वस्तु—भूतात्मक तथा चित्तात्मक—विद्यमान है, भूतकाल में थी तथा भविष्य-काल में भी विद्यमान रहेगी। इनके अनेक सिद्धान्तों में स्थविरवाद से साम्य होने पर भी ये लोग स्कन्धों की सत्ता मानने में उनसे पृथक् थे। बुद्ध को ये लोग दैवी शक्तियों से समन्वित मानवमात्र ही मानते थे। महासंघिकों के समान ये लोग बुद्ध का इस जगत् में विद्यमान रहना काल्पनिक तथा कायिक नहीं मानते थे।

साम्मितीयों की सृष्टि अशोकवर्धन के पहले ही हो चुकी थी, पर उत्तरी भारत में इनका विपुल प्रचार गुप्तकाल में ही हुआ। हर्षवर्धन के समय यह सम्प्रदाय अपनी उन्नति के शिखर पर था। हुएनत्सांग इस सम्प्रदाय के १५ ग्रन्थों को अपने साथ चीन ले गये थे। इनके ग्रन्थों का पता नहीं चलता, पर उनकी भाषा अपभ्रंश बतलायी जाती है। इनके २० सिद्धान्तों की सूचना कथावत्थु की आलोचना से मिलती है, पर इनका सबसे सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल के विषय में है। ये लोग पञ्च-स्कन्ध के अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ की भी सत्ता मानते हैं—जो पञ्च-स्कन्धों को धारण किये रहता है, पर जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। स्कन्ध-पञ्चक के उत्पत्ति तथा विनाश के साथ ही इस पुद्गल पदार्थ के उत्पत्ति-लय हुआ करते हैं। यह पुद्गल हिंदू दार्शनिकों के जीव के समान होता है, पर एक अंश में भिन्न होता है। स्कन्धपञ्चक के नाश होने पर इस पुद्गल का नाश साम्मितीयों को अभिमत था। ये लोग अन्तराभव (जीव की मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच में होनेवाले) देह को मानते थे और इस कार्य के लिये पुद्गल की कल्पना की गयी थी। अन्तराभव देह की कल्पना पूर्वशैलीय सम्प्रदाय की भी थी। अर्हत् पद की प्राप्ति

शाश्वतिक नहीं है, प्राचीन कर्मों के फलानुसार अर्हत् पद से पतन भी हो सकता है[1]।

अन्धक-सम्प्रदायों में वैपुल्यवादी अपना खास महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कथावत्थु की अट्ठकथा में इन्हें महाशून्यतावादी कहा गया है। इनके मत संघ, बुद्ध तथा मैथुन के विषय में अन्य सम्प्रदायों से विभिन्न थे[2]। इनका कहना था कि (१) सङ्घ की कल्पना अलौकिक है; अतः संघ न दान ग्रहण करता है न उसे परिशुद्ध या उपभोग करता है। इसलिये संघ को दान देने में महाफल की प्राप्ति नहीं होती। (२) बुद्ध इस लोक में न आकर ठहरे और न धर्मोपदेश किये। अतः बुद्ध को दान देने में महाफल की प्राप्ति नहीं होती। (३) मैथुन के विषय में इनका सिद्धान्त था कि किसी खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) यदि पति-पत्नी में स्वाभाविक अनुरक्ति हो या भविष्य लोकों में एक साथ निवास करने की इच्छा हो तो मैथुन का आचरण किया जा सकता है। यह नियम बौद्ध भिक्षुओं के लिये भी जायज़ था। कहना न होगा कि ये सिद्धान्त बौद्धधर्म में भयङ्कर विप्लव मचानेवाले थे। वैपुल्यवादियों के प्रथम-द्वितीय सिद्धान्तों में महायान के विकास की सूचना है, तथा अन्तिम सिद्धान्त में तान्त्रिक या वज्रयान सम्प्रदाय के स्फुट बीज। बुद्ध की ऐतिहासिकता को स्वीकार न करना तथा किन्हीं अवस्थाओं में मैथुन की अनुज्ञा देना एकदम घोर परिवर्तन के सूचक सिद्धान्त थे। पहला सिद्धान्त महायान को मान्य है। वैपुल्यवादियों में सबसे बड़े प्रचारक नागार्जुन माने जाते हैं। इन सब बातों की आलोचना के निष्कर्षरूप में यह कहना अनुचित न होगा कि महासंघिकों का ही अन्धक-सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवाद के रूप में विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है।

---

१ देखिये 'कथावत्थु' के अँग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ. १८-१९।
२ देखिये 'कथावत्थु' के भाग १८,२३।

महायान-सम्प्रदाय

आजकल समस्तबौद्ध जगत् प्रधानतया दो सम्प्रदायों का अनुयायी है। सिंघल, बरमा, स्याम आदि दक्षिणी देशों में हीनयान का प्रचार है; पर तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया तथा जापान आदि उत्तरी प्रदेशों में महायान का बोलबाला है। महायान-सम्प्रदाय की अश्वघोष के समय प्रथम शताब्दी में उत्पत्ति मानी जाती है; इस सम्प्रदाय वालों ने अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिये निर्वाण की प्राप्ति में प्रधान साधनभूत होने के कारण अपने को महायान तथा स्थविरवादियों को हीनयान के नाम से अभिहित किया है। इन दोनों सम्प्रदायों का भेद मौलिक है[1]। वैमत्य का सबसे प्रधान विषय है इस मानवजीवन के अन्तिम लक्ष्य तथा तत्सम्बद्ध निर्वाण की विभिन्न कल्पना। बौद्धग्रन्थों में जीवन्मुक्ति या 'बोधि' त्रिविध यानों में तीन प्रकार की मानी गयी है—श्रावकबोधि, प्रत्येक बुद्धबोधि तथा सम्यक् सम्बोधि। बुद्ध के पास धर्म सीखनेवाले को 'श्रावक' कहते हैं। श्रावकबोधि हीनयान का चरम लक्ष्य है। बुद्ध का कहना है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप स्वयं हैं; अतः इस भव-बन्धन से मुक्ति पाने के लिये उसे परमुखापेक्षी होने की जरूरत नहीं, वह स्वयं आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण कर राग-द्वेष की विषम वागुरा से छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधक के लिये चार अवस्थाओं का वर्णन महालिसुत्त ने किया है।

---

१ महायान मुख्यतया निम्नलिखित सिद्धान्तों को मानने वाला है—(१) बोधिसत्त्व की कल्पना, (२) षट् पारमिताओं का अनुष्ठान, (३) बोधिचित्त का विकास, (४) आध्यात्मिक उन्नति की दस भूमियाँ, (५) बुद्धत्व का चरम लक्ष्य, (६) धर्मकाय, संयोगकाय तथा निर्वाणकाय—इन त्रिविध कायों की कल्पना तथा (७) धर्मशून्यता या धर्मसमता या तथता की कल्पना।

पहली अवस्था 'स्रोत आपन्न' कही जाती है, जब मनुष्य का चित्त प्रपञ्चमार्ग से नितरां हटकर निर्वाणमार्ग की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। दूसरी भूमि 'सकृदागामी' कही जाती है, जिसमें इस जन्म में नहीं बल्कि अगले जन्म में साधक निर्वाण का अधिकारी बन जाता है। और इसके लिये उसे एक बार पुनः संसार में आने की आवश्यकता बनी रहती है। 'अनागामी' भूमिका में फिर इस क्लेशबहुल संसार में आने की आवश्यकता नहीं रहती और चतुर्थी भूमिका 'अर्हत्' कहलाती है—जिसमें साधक अपने व्यक्तिगत कल्याण की साधना कर जीवन्मुक्ति लाभ कर लेता है, पर उसे अन्य जीवों को मुक्त करने की योग्यता अभी नहीं प्राप्त होती। अर्हत् के लिये निर्वाण अखिल राग-द्वेष का अत्यन्ताभाव रूप है। यही अर्हत्पद की प्राप्ति हीनयान का लक्ष्य है।

'प्रत्येक बुद्ध' की कल्पना अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच की साधना का सूचक है। गुरु के पास उपदेश ग्रहण किये बिना ही जिसे स्वस्फूर्ति से बुद्धत्व का लाभ हो जाता है, उसे 'प्रत्येक बुद्ध' कहते हैं; पर उसमें दूसरे लोगों को तारने की शक्ति नहीं रहती। वह तो केवल जङ्गल आदि एकान्त स्थानों में निवास कर विमुक्तिसुख का अनुभव करता है। तीसरी बोधि 'सम्यक् संबोधि' कही जाती है और उसके प्राप्त करने वाले को 'बुद्ध' कहते हैं। बुद्धत्व के अधिकारी साधक को 'बोधिसत्त्व' कहते हैं।

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान-सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है। यह कल्पना इतनी उदात्त तथा इतनी मनोरम है कि केवल इसी कल्पना के आधार पर यह धर्म संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है, बोधि = ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (बोधौ सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः[1])। अर्हत् तथा प्रत्येक बुद्ध का लक्ष्य नितान्त सीमित

१. बोधिचर्यावतारपंजिका पृष्ठ ४२१।

रहता है। अपना अभ्युदय तथा व्यक्तिगत कल्याण-साधन करना ही इन दोनों के अनुष्ठान का अन्तिम उद्देश्य रहता है, पर बोधिसत्त्व संसार के समस्त प्राणियों के समग्र दुःखियों का नाश कर उन्हें निर्वाण-प्राप्ति करा देना अपना जीवन-उद्देश्य मानता है। संसार का एक भी प्राणी जबतक मुक्त नहीं हो जाता तबतक वह स्वयं निर्वाणसुख को भोगने के लिये कथमपि उद्यत नहीं होता। उसके जीवन का ध्येय स्वार्थसिद्धि न होकर परोपकारव्रत रहता है। वह जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही स्वरूप समझता है। अतः बोधिसत्त्व का 'स्व' इतना विस्तृत रहता है कि उसकी परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। बोधिसत्त्व यही चाहता है[1] कि बुद्धप्रदर्शित मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का उसने अर्जन किया है, उसके द्वारा समस्त प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो। समग्र जीवों के मुक्तिलाभ करने पर जो आनन्दसमुद्र हिलोरें मारने लगता है, वही उसके जीवन को आनन्दमय—सार्थक बनाने के लिये पर्याप्त है; रसहीन—सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है? बोधिसत्त्व में प्रधान गुण होता है—महाकरुणा। पिपीलिका से लेकर हस्ती पर्यन्त निखिल जीवों के क्लेशमय जीवन को देखकर उसके हृदय में उनके प्रति नैसर्गिक रूप से करुणा का आविर्भाव होता है तथा उनके दुःखों का सर्वथा नाश कर उन्हें आनन्द प्रदान करने का पवित्र आदर्श ही उसके जीवन का महान् व्रत बन जाता है। बोधिसत्त्व का अवसान है—बुद्धत्व की प्राप्ति अर्थात् सम्यक् संबोधि की उपलब्धि। इसे पाये बिना

---

१. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥
(बोधिचर्यावतार)

दूसरों को मुक्त करने की तथा उपदेश देने की योग्यता आ ही नहीं सकती। महायान महाकरुणा को सम्यक् संबोधि का प्रधान साधन मानता है।

महायान ग्रन्थों में बोधिसत्त्व के उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिये अनेक शिक्षाओं तथा अनुष्ठानों का विधान किया गया है, जिन्हें 'बोधि-चर्या' के नाम से पुकारते हैं। बोधिसत्त्व को सबसे पहले बोधिचित्त का परिग्रह करना चाहिये। सब जीवों के समुद्धरण के लिये बुद्धत्व की प्राप्ति के अभिप्राय के सम्यक् संबोधि में चित्तका प्रतिष्ठित करना बोधि-चित्त का ग्रहण करना है। भवसागर से पार जाने के लिये सभी प्राणियों को बोधिचित्त का ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। बोधिचित्त के उत्पादन के लिये सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान बौद्धग्रन्थों में किया गया है। इन पूजाविधानों के नाम हैं—वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना। इन अनुष्ठानों के साथ-साथ षट् पारमिताओं का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्व को। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट् परिमिताओं का उपार्जन बुद्धत्व प्राप्ति का प्रधान साधन है। स्वार्थबुद्धि बन्धन में हेतु है। अतः आत्मभाव का त्याग निर्वाण का हेतु माना जाता है। इस निःस्वार्थबुद्धि की पराकाष्ठा दान-पारमिता की सूचिका मानी जाती है। प्राणातिपात आदि गर्हित कार्यों से चित्त की विरति 'शील' शब्दवाच्य है। दूसरे के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता 'क्षान्ति' है। सतत दुःखों के उत्पन्न होनेपर भी उनके द्वारा अधिवासित न होना (दुःखाधिवासना) क्षान्ति कहलाता है, तथा दूसरों के अपकारों का सहन करना (परापकारमर्षण) क्षान्ति कहलाता है। क्षान्ति के साथ कुशल कर्म करने के सामर्थ्य का होना भी नितान्त उपयुक्त है। इसी को 'वीर्य' कहते हैं। वीर्य का फल ध्यान-चित्तैकाग्रता है। समाहितचित्त पुरुष प्रज्ञा का उपार्जन कर सकता है;

चित्त के ध्यान-सम्पादन से निष्कलुष होने पर ही प्रज्ञा का उदय हो सकता है। दानादि पञ्च पारमिताओं का सुफल प्रज्ञापारमिता का आविर्भाव माना जाता है; प्रज्ञा के बिना उदय हुए बुद्धत्व की प्राप्ति असम्भव ही है।

शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान, सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है और न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिता का उदय होता है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तुजात माया के सदृश है, तथा स्वप्न की तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता (सांवृतिक सत्य) ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। व्यवहारदशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्यता है, परमार्थदशा में सर्वभाव धर्मशून्य हैं। वास्तव में सब भावों की शून्यता ही पारमार्थिक ज्ञान है। उस समय समुत्पन्न बोधिचित्त (संबोधिनिष्ठित चित्त) निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है[1]। वह काठिन्य तथा मार्दव, उष्णता तथा शीतलता, संस्पर्श तथा ग्राह्यता आदि धर्मों से शून्य होता है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले पुरुष के लिये लिये इस जगत् का समग्र व्यवहार स्वप्न से अधिक सत्ता नहीं रखता। संवृति = संसार समस्त दोषों का आकर है, पर निर्वृति = निर्वाण—समस्त गुणों का भण्डार है। इस प्रज्ञापारमिता की कल्पना पूजनीया देवी के रूप में पारमितासूत्रों में की गयी है[2]। प्रज्ञा

---

१. बोधिचित्त के स्वरूप के लिये देखिये 'नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र' ११–२६ (विश्वभारती सीरीज न० ४)

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम् ॥१२॥

२. देखिये—प्रज्ञापारमितासूत्र—

की उपासना महायान की प्रधान विशेषता मानी जाती है।

महायान ने त्रिकाय (निर्माण या रूपकाय, संभोगकाय तथा धर्मकाय) की कल्पना कर बुद्धत्व के आदर्श को बड़ा ही ऊँचा दिखलाया है। शाक्यमुनि के सब कार्य तात्त्विक बुद्धि के आचरण नहीं हैं, प्रत्युत मानव-समाज के सामने 'बुद्धत्व की प्राप्ति नितान्त काल्पनिक न होकर वास्तविक है'—यह शिक्षा देने के लिये लोकानुवर्तन के निमित्त बुद्ध के निर्माणकाय के द्वारा किये गये हैं। धर्मकाय अनन्त तथा अपरिच्छेद्य है। सम्पूर्ण स्थान में यह व्यापक है। सम्भोग तथा निर्माणकाय का यह मूल आधार है। यह नित्य, सत्य तथा परिच्छेदातीत गुणों का निकेतन है। धर्मकाय एक—अभिन्न रूप में स्थित रहता है। इस धर्मकाय की कल्पना बुद्ध को ईश्वर रूप में मानने के लिए की गयी है। परमसत्य स्वरूप बुद्ध मानव-समाज के कल्याण-साधन के निमित्त अनेक रूप धारण किया करते हैं। ऐतिहासिक बुद्ध भी उन्हीं के एक अवतारमात्र माने जाते हैं। इनकी भक्तिपूर्वक उपासना करने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। सद्धर्मपुण्डरीक का कहना है कि सच्चे प्रेम से भगवान् बुद्ध की एक पुष्प के अर्पण द्वारा पूजा करने से साधक को अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार महायान धर्म ने निरीश्वर-वादी शुष्क निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे सेश्वरवादी तथा प्रवृत्ति-प्रधान के मनोरम रूप में उपस्थित किया है। भक्तियोग ने मानवसमाज की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के नैसर्गिक विकास के लिये बुद्ध-धर्म को एक नवीन मार्ग पर आरूढ़ किया। इस कारण तथागतधर्म की लोकप्रियता बढ़ी तथा विपुल जीवों ने कल्याणसाधन के सुगम मार्ग

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्।
साधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥ ६ ॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥१७॥

सीख कर बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरणागति ग्रहण की। महायान की कल्पना के मूल में गीता का भक्तिसमन्वित कर्मयोग कारण माना जाता है। भोटदेशीय सुप्रसिद्ध विद्वान् तारानाथ ने गीताधर्म के प्रभाव को महायान के रूपपरिवर्तन में प्रधान कारण माना है[1]।

इस महायान के रूप का विकास चलता ही गया। वैपुल्यवादियों ने मन्त्र-तन्त्र की ओर विशेष रुचि दिखलायी। इस मत के आचार्य नागार्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक तथा सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इनकी गुह्य शिक्षाओं ने महायान का स्वरूप बदलने में विशेष सहायता दी। वैपुल्यवादी 'मन्जुश्रीमूलकल्प' में हम नाना मन्त्र-तन्त्रों का विधान पाते हैं, पर उस रूप का यहाँ अभाव है, जो वज्रयान में दीख पड़ता है। पहले मन्त्रयान की उत्पत्ति हुई, भोटग्रन्थों के आधार पर धान्यकटक तथा श्रीपर्वत के आसपास इसकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। धार-णियों की रचना हुई; मन्त्र-यन्त्रों की विपुलता ने प्राचीन बुद्धत्व के आदर्श को ढक दिया। आगे चल कर मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई—जिसमें मद्य, मन्त्र, हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान है तान्त्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप। दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है[2] पर आचार में तान्त्रिक क्रियाकलाप की बहुलता है। यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर तिब्बत, चीन आदि भारतेतर देशों के तथा स्वयं पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का कारण माना जाता है।

---

१. तिलक-गीतारहस्य (पृ० ५७०-५८५)।

२. अविनाशी तथा सारभूत होने के कारण शून्यता ही 'वज्र' शब्द का वाच्यार्थ है—दृढ सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥
—वज्रशेखर (अद्वयवज्रसंग्रह पृ० २३)

चीनी-धर्म

(१) कुङ्गमुनि का मत

(कनफ्यूशियस)

इस लेख के शीर्षक को देख कर हमारे पाठक शायद चौक उठें। पुराणों में विचित्र नामवाले ऋषि-मुनियों के नाम उनके कान तक आये हैं, परन्तु ऐसा विचित्र नाम तो अभी तक पौराणिक ग्रन्थों में सुनने में भी नहीं आया। बात यह है कि ये मुनिवर्य भारत के महात्मा नहीं है, प्रत्युत चीन देश के एक विख्यात धर्म-प्रचारक सिद्ध पुरुष हैं। इन्हीं को अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग 'कनफ्यूशियस' के महनीय नाम से पुकारते हैं, परन्तु इनके चीनी नाम 'कुङ्ग फुत्जे' के आद्य शब्द में मुनि शब्द मिला देने से हमारे लिए आप 'कुङ्ग मुनि' हैं। चीन देश की सभ्यता को प्रतिष्ठित करने वाले लोगों में कुङ्गमुनि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। बुद्धधर्म का प्रचार चीन देश में पर्याप्त मात्रा में है, पर कुङ्गमुनि तथा बुद्ध की शिक्षाओं में पारस्परिक विभेद न होने के कारण इन दोनों मतों का प्रसार साथ ही साथ हुआ है। प्रत्येक चीनी ऐहिक जीवन के लिए कुङ्गमुनि के सदुपदेशों में श्रद्धा रखता है, साथ ही साथ पारलौकिक जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए वह बौद्ध-धर्म का पक्षपाती है। इस प्रकार दोनों मतों को मिल कर चीन देशीय सभ्यता तथा संस्कृति को चिरस्थायी बनाने का गौरव प्राप्त है। कुङ्गमुनि चीन देश की विभूति थे, बुद्ध भारतवर्ष की। इन दोनों के उपदेश चीन की पवित्र भूमि में दूध पानी की तरह मिल कर चीन देशवासियों के जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि इन दोनों के प्रभावों का पृथक्करण नितान्त असम्भव सा प्रतीत होता है।

कुङ्गमुनि बुद्ध के समकालीन थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व ५५१ वर्ष में आधुनिक 'शंगटुंग' नामक प्रान्त के 'चो' नामक स्थान पर हुआ था। तीन साल की अवस्था में पिता मर गये, जिस से घर में दरिद्रता का राज्य हो गया, पर आपने इतने उत्साह तथा प्रेम से विद्या का अभ्यास किया कि ये २० वर्ष की उम्र में अपनी विद्या, बुद्धिमत्ता तथा चरित्रबल के कारण विख्यात हो गये। २२ वर्ष की अवस्था में ही ये प्राचीन इतिहास, राजनीति तथा तत्त्वज्ञान की शिक्षा देने लगे। भारतीय आदर्श के अनुसार इनकी शिक्षा निःशुल्क होती थी। दूर दूर से विद्यार्थी इनकी विद्वत्ता की कमनीय कीर्ति सुन कर आने लगे। इन्होंने संगीतशास्त्र का भी खूब अभ्यास किया था, दैवयोग से इनकी पूजनीया माता का देहावसान इसी काल के आसपास हो गया। उस समय चीन की राजधानी 'होनान' प्रान्त में 'लोयाग' नामक नगर में थी। महाराजा का नाम था चाव। कुङ्गमुनि इनसे मिलने राजधानी पहुँचे, पर बड़े सुयोग से इनकी तत्कालीन एक विख्यात दार्शनिक से भेंट हुई। महाराजा चाव के विशाल ग्रन्थालय का अध्यक्ष 'लावटान' था, जो 'लावो त्सु' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके मत का आदर आज भी यूरोप में सर्वत्र है। लाव त्सु वृद्ध हो गये थे, कुङ्ग अभी नवयुवक थे। दोनों की भेंट हुई। इस भेंट से कुङ्ग के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। लाव त्सु त्याग, शान्ति तथा निष्काम कर्म आदि उपनिषद्-प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के पक्षपाती थे, कुङ्ग आपाततः इनसे प्रेम न करते थे, पर पारस्परिक विचार-विनिमय से इनके ऊपर भी इन सिद्धान्तों का कम प्रभाव न पड़ा। सन् ५०१ ई० पू० अपनी उम्र के पचासवें वर्ष में कुङ्गमुनि 'चुंग टू' नामक प्रधान न्यायाधीश बनाये गये। तब इन्होंने अपने सदुपदेशों को व्यवहार में लाकर लोगों को चकित कर दिया। देश से चोरी-चमारी का नाम मिटने लगा, लोगों ने घरों में ताला लगाना बन्द कर दिया, सर्वत्र शान्ति विराजने

लगी। उस प्रान्त के राजा 'टिंग' ने इस सुव्यवस्था को देख कर इनके नियमों को सम्पूर्ण प्रान्त भर में प्रचारित किया। वहाँ भी वही शान्ति विराजने लगी, पर अन्य राजाओं को यह कब अच्छा लगता? उन्होंने एक षड्यन्त्र रच कर राजा के मन में इनके प्रति वैमनस्य का उदय करा दिया। बेचारे योग्य न्यायाधीश होते हुए भी राज्य के उन्नत पद से हटा दिये गये। इसके बाद इन्होंने अपने नियमों का प्रचार करने के लिए बड़े बड़े दरबारों की खाक छानी, पर किसी ने भी इनकी नीतिमय शिक्षाओं पर ध्यान देने का कष्ट नहीं उठाया। अन्त में उनकी पत्नी तथा पुत्र की मृत्यु हो गयी, इन्होंने इन क्लेशों को भी अपनी धैर्यशक्ति से सह लिया। इस प्रकार ४७८ ई० पू० ७२ वर्ष की उम्र में कुङ्गमुनि ने यह भौतिक शरीर छोड़ा। इतने बड़े मेधावी, परोपकारी महात्मा का इस प्रकार देहावसान हो गया। यद्यपि राजाओं तथा सरदारों के द्वारा जीवनकाल में समादृत होने का इन्हें गौरव प्राप्त न था, पर इनके शिष्यों ने इनकी खूब सेवा की, उपदेशों का खूब मनन किया तथा दूर दूर देशों में इनकी नीतिमय शिक्षा का विस्तार किया। मरने के बाद इनके शरीर को पिटारी में रख कर समाधि दे दी गयी तथा इनके ५०० शिष्यों ने गुरु की समाधि पर तीन वर्ष तक शोक मनाया। इनकी 'तालिनफू' नामक नगर में समाधि आज भी विद्यमान है। इन्होंने अपनी शिक्षाओं को लिपिबद्ध भी किया था। इनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। संसार की समस्त प्रतिष्ठित भाषाओं में इन ग्रन्थरत्नों के अनुवाद विद्यमान है। सौभाग्य का विषय है कि लंदन-प्रवासी डाक्टर हरिप्रसाद शास्त्री ने इनमें से एक ग्रन्थ का मूल चीनी भाषा से हिन्दी में अनुवाद किया है तथा विद्या-प्रेमी बड़ोदा के महाराजा ने 'श्री सयाजी साहित्यमाला' में (२२५ नं०) 'कुङ्गमुनिज्ञानामृत' नाम से इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है।

कुङ्गमुनि ने ऐहिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए नीति की

सुन्दर शिक्षाओं का विधान किया है। ईश्वर के अस्तित्व को वे मानते हैं, आत्मा के पुनर्जन्म में उन्हें विश्वास है, फिर भी वे परलोक के सुधारने की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी इस लोक की। मनुष्य 'सामाजिक जीव' है, वह समाज में रहता है, पनपता है तथा अन्त में नाश को प्राप्त हो जाता है, उसका मानव समाज के साथ घनिष्ठ-सम्बन्ध बना हुआ है। अतः समाज की उन्नति से उसकी उन्नति होगी। वैयक्तिक उन्नति मानवजीवन का लक्ष्य नहीं है, वह तो सामाजिक उन्नति का आनुषङ्गिक फल है। समाज के प्रत्येक प्राणी के साथ सद्-व्यवहार करना हमारा परम धर्म है। माता पिता के प्रति भक्ति, दीनजन तथा सेवक के प्रति दया, भाई-बन्धुओं के साथ सहानुभूति रखने की सुन्दर शिक्षा देकर इस सिद्ध पुरुष ने चीनी सभ्यता को ध्वंस से बचा लिया। प्रजा के ऊपर पुत्र प्रेम रखना, उनके कल्याण की सर्वदा कामना करना, राज्य की आय को अपने व्यक्तिगत भोग-विलास में न खर्च कर सार्वजनिक हित के कार्मों में लगाना, हितेच्छु न्याय-परायण पुरुष को अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित करना आदि राजनीति के उपदेशों पर भारतीय राजनीति की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कुङ्गमुनि के उपदेश सनातन धर्म के उपदेशों के ही छायामात्र है। मानव समाज के कल्याण-साधन के लिए दिये गये भगवान् मनु के सारगर्भित उपदेशों पर ही ये शिक्षाएँ अवलम्बित है। बुद्ध के जन्म से पहले भी भारत तथा चीन का आदान-प्रदान था, लेन-देन होता था। उसी समय भारतीय धर्म की शिक्षाओं ने इस महात्मा पुरुष को मुग्ध कर लिया था और उसी का प्रभाव उनके सदुपदेशों तथा वचनामृतों में प्रत्यक्षरूप से लक्षित हो रहा है। इस ऐतिहासिक घटना के पर्याप्त प्रमाण हमारे पास इस समय भले ही उपलब्ध न हों, पर इतना तो निश्चय है कि इस मानवधर्म (या सनातन धर्म) का हृदय इन उपदेशों में स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा

है। विद्या तथा धर्म का संग्रह करना उतना उपादेय नहीं है जितना समभाव से व्यवहार में लाना। इस पर आप कहते हैं—'विद्या तथा धर्म का संग्रह करना मिट्टी के टीले बनाने के समान है, अगर एक टोकरा मिट्टी डालना बाकी रहे और मैं रुक जाऊँ, तो मेरा ही दोष है। इनकी समानता जमीन को चौरस बनाने के लिए मिट्टी बिछाने के समान है। अगर एक बार एक टोकरा मिट्टी डाली जाय, तो भी कुछ न कुछ काम की उन्नति ही होती है।" आपत्ति के समय पुरुष के गुणों की परख होती है, इसके विषय में इनका एक उपदेश बड़ा ही हृदयग्राही है। आप कहते हैं कि "जब शीतकाल आता है, तब हम देखते हैं कि चीड़ और देवदारु सब के पीछे अपने पत्ते त्यागते हैं।" क्यों न हो, वे वृक्षों में श्रेष्ठ जो ठहरे। पूर्ण धर्म के विषय पर पूछने पर आपने बतलाया—"पूर्ण धर्म वह है जब तुम बाहर निकलो तो प्रत्येक से यह समझ कर मिलो कि वह तुम्हारा बड़ा अतिथि है। लोगों से जब काम लो तो यह समझो कि बड़ा यज्ञ कर रहे हो। किसी के साथ ऐसा बरताव मत करो, जो तुम उससे अपने लिए नहीं चाहते। देश में कोई दुःखित होकर तुम्हारी निन्दा न करे और घर में भी कोई तुम्हारे विरोध में न बुड़बुड़ाये" (पृ० ९७)। कितनी सुन्दर शिक्षा है ! जिस शिक्षा को ईसाई लोग 'गोल्डन रूल' (सुनहरा नियम) बतलाते हैं और जिसे ईसा से ५०० वर्ष पूर्व उत्पन्न होने वाले कुङ्गमुनि ने अपने देश में प्रचारित किया था, वह शिक्षा महर्षि वेदव्यास के एक श्लोकार्द्ध में दी गयी है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

राज्य के विषय में इनके सुन्दर मत पर ध्यान दीजिये। 'जे कुङ्ग' नामक शिष्य के द्वारा शासन की आवश्यक बातों के विषय में पूछे जाने पर मुनि जी ने कहा—"पेट भर खाने को हो, सेना पर्याप्त हो और प्रजा का शासक में विश्वास हो।" जे कुङ्ग ने फिर पूछा—"यदि इन

-वस्तुओं में से एक को छोड़ना पड़े, तो पहले किस को त्यागें ?" गुरुदेव ने कहा—"सेना को।" जे कुङ्ग ने फिर पूछा—"यदि बची हुई दो वस्तुओं में से एक में कमी करनी हो, तो किस में करें ?" गुरुदेव ने कहा—"अन्न में। पूर्वकाल में मौत सब को खाती आयी है, (अर्थात् मृत्यु-मुख में जाना मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है) पर यदि राजा में प्रजा का विश्वास नहीं, तो वह राज्य ठहर नहीं सकता।" (पृ० ९०)। कितने राजनैतिक अनुभव से भरा हुआ यह उपदेश है। महाकवि कालिदास की एक छोटी उक्ति में मूल उपदेश का सारांश भरा हुआ है—"राजा प्रकृतिरञ्जनात्" अर्थात् राजा के नाम की सार्थकता प्रजा के रञ्जन में है—उसे प्रसन्न रखने तथा विश्वास उत्पन्न करने में है। किन पुरुषों का सार्थक जीवन है इस प्रश्न के उत्तर में इस महात्मा का जो उत्तर है वह ध्यान रखने लायक है, विशेष कर इधर-उधर की व्यर्थ वार्तों में अपने बहुमूल्य समय को बिताने वाले विद्यार्थियों को। इनका कहना है—"यदि कुछ लोग दिन भर साथ रह कर एक बार भी सत्य, पुण्य तथा धर्म की बात चीत न करें और और छोटी छोटी कलह की बातों पर उतर आयें तो वे लोग व्यर्थ है।" कितना उपादेय उपदेश है ? आनन्द के इन तीन प्रकारों पर ध्यान दीजिये—(१) शास्त्रोक्त कर्म तथा रागों के विवेक युक्त अध्ययन में आनन्द, (२) दूसरों की भलाई के वर्णन में आनन्द, (३) अनेक भले तथा विद्वान् मित्रों की सङ्गति में आनन्द। ये तीन आनन्द लाभदायक होते हैं। (१) अपव्यय की रुचि में आनन्द, (२) आलस्य तथा व्यर्थ फिरने में आनन्द, (३) भोज का निमंत्रण देने तथा खाने में आनन्द। ये तीनों आनन्द कष्टदायक होते हैं (पृ० १४५)। इसे पढ़ कर अपने आनन्द के रूप पर ध्यान दीजिये कि वह लाभदायक है अथवा कष्टकारक है।

इस प्रकार के सुन्दर उपदेशों से इनकी पुस्तकें भरी पड़ी है।

(२) ता-ओ धर्म

आजकल चीन देश में तीन धर्मों का प्रचलन है—(१) कोंगत्से (कुंगमुनि) का धर्म, (२) बौद्धधर्म, (३) ता-ओ धर्म। बौद्धधर्म तो भारत से गया हुआ धर्म है। अन्य दोनों धर्म चीन की भूमि पर पनपनेवाले स्थानीय धर्म हैं। कुछ विद्वान् लोग दोनों को भिन्न-भिन्न धर्म मानते हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों के मूल सिद्धान्तों में अन्तर नहीं है। केवल अधिकारिभेद से वे दोनों भिन्न मार्ग प्रदर्शन करते हैं। कुंगमुनि का धर्म जनसाधारण के लिए है और ता-ओ धर्म विशिष्ट व्यक्तियों के लिए है जिनमें बाह्य-सम्पत्ति का प्रलोभन कम है और जो आत्मविजय, वैराग्य, संयम तथा समाधि की ओर स्वभाव से उन्मुख हैं। कुंगमुनि ने सदाचार की शिक्षा की ही प्रधानता दी है। उनका लक्ष्य उत्तम मानवता की प्राप्ति है। इस विषय में उनके उपदेश हमारे भगवान् मनु के उपदेशों के समान ही समाज के हितकारक हैं। ता-ओ धर्म का लक्ष्य कुछ दूसरा ही है।

'ता-ओ' धर्म के संस्थापक का नाम 'लओ-त्से' ऋषि है, जिनका आविर्भाव ईसा से पाँच-छ सौ वर्ष पहले माना जाता है। इस धर्म विभाग के नामकरण का यह कारण है कि इसके अनुसार 'ताओ' शब्द निर्विकार निरुपाधिक परम तत्त्व का द्योतक है। इसकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त की शिक्षा से विशेष मिलती है। यह पक्का निवृत्तिमार्ग है जिसके अनुयायियों को घर-बार छोड़कर पर्वतों में एकान्तवास करना पड़ता है। ये प्रवृत्तिमार्ग को अज्ञानमूलक समझते हैं। संसार के क्षणिक सुखों की प्राप्ति को ये घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका आराध्य व्रत है—वैराग्य। 'वैराग्य = मेवाभयम्'—भयरहित वैराग्य ही परमसाधन है। इस पन्थ के अनुयायियों के साथ चीन के लोगों ने कभी २ बुरा बर्ताव

किया। फलतः यह पन्थ नगर से दूर हटकर पर्वत के शरण में अपना जीवन बिताता है।

ता-ओ धर्म की मूल पुस्तक बड़ी विचित्र है। इसमें शब्दों का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत प्रतीकों या चिन्हों के द्वारा जगत् के समग्र पदार्थों का रूप तथा परस्पर सम्बन्ध बतलाये गये हैं। इस ग्रन्थरत्न का नाम है—यी-किंग तथा इसके रचयिता सम्राट् का नाम है—फो-हि। चीन देश की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। वहाँ के लोगों ने पुस्तक के छापने की विद्या का आविष्कार बहुत पहिले कर लिया था। चीन देश के ग्रन्थकार ग्रन्थ के लेख समय में विद्यमान ग्रहों तथा नक्षत्रों की स्थिति का उल्लेख किया करते हैं जिसके उस ग्रन्थ के प्रणयनकाल का निःसन्दिग्ध परिचय हमें प्राप्त हो जाता है। इस पद्धति का प्रयोग इस ग्रन्थ के विषय में भी किया जा सकता है। इसका रचना-काल इस ज्योतिष की गणना से ई० पूर्व ३४१८ ठहरता है अर्थात् आज से पहिले यी किंग की रचना साढ़े पाँच हजार वर्षों के लगभग (५४१२ वर्ष) की गई थी।

इस ग्रन्थ के रचयिता सम्राट् फो-हि केवल व्यवहार-कुशल राजा ही न थे, प्रत्युत चीनी मान्यता के अनुसार वे ऋषि, योगी तथा सिद्ध पुरुष थे। चीनी ग्रन्थों में इनका पवित्र चरित लिखा मिलता है। इन्होंने अपनी बहिन न्युका के साथ मिलकर चीन देश पर शासन किया। इनकी मूर्ति साँप के रूप में मिलती है जिसमें शिर तो मनुष्य की आकृति रखता है और नीचे के भाग में दो सर्प एक दूसरे से लिपटे हुए दिखलाये गये हैं। यह मूर्ति भी शिव-शक्ति के, पुरुष-प्रकृति के मिश्रण का व्यक्त प्रतीक है।

'यी-किंग' में परमतत्त्व का तो निरूपण विद्यमान ही है। साथ ही साथ ऐहिक जीवन को सुखमय बनानेवाली विद्याओं का भी सार प्रस्तुत किया गया है। आजकल इस ग्रन्थ का उपयोग भविष्य की घटनाओं की जानकारी के लिए किया जाता है। इसके अध्ययन से ज्योतिष के भी

सिद्धान्तों का पता चलता है। बुद्धि कौशल के अनुसार इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की जाती हैं। पूरा ग्रन्थ केवल प्रतीकों का पुंजमात्र है जिसके भाष्य लिखने के समय भाष्यकारों ने चीन की प्राचीन भाषा का उपयोग किया है।

'ता-ओ' की शिक्षा

ता-ओ की व्यावहारिक शिक्षा हमारे योगशास्त्र से मिलती है। दीर्घ जीवन की प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। इसके लिए प्राणायाम, आसन, तथा ध्यान की व्यवस्था है। बौद्धधर्म का प्रभाव भी इस पर विशेष रूप से पड़ा है। चित्त को संसार के विषयों से हटाकर एक स्थान पर लगाने की नितान्त आवश्यकता है तभी चित्त में शान्ति का उदय हो सकता है। इसे योग की भाषा में कहना चाहिए—विक्षिप्त चित्त को एकाग्र करना। 'आत्मविजय' ही सर्व-श्रेष्ठ विजय है, बाहरी शत्रुओं पर विजय पाना अनुपादेय है। 'आत्मविजय' की व्याख्या करते समय एक भाष्यकार ने सुन्दर उदाहरण दिया है। सड़क पर दो मित्र मिले। एक ने पूछा—भाई, तुम तो मोटे होते चले जाते हो। इसका क्या कारण? दूसरे ने उत्तर दिया—भाई, जब घर पर था, तब प्राचीन तत्त्वज्ञों के ग्रन्थ पढ़ कर धर्म की प्रशंसा करता था। बाहर निकला, तो सम्पत्ति तथा सामर्थ्य, कामिनी तथा काञ्चन के प्रलोभनों ने मुझे खूब घेरा। अन्तर्युद्ध छिड़ गया। मैं गलने लगा। शरीर क्षीण होने लगा। अब मैंने आत्मा पर विजय प्राप्त कर ली है, इस लिए मोटा हो रहा हूँ। इस कथानक से ता-ओ धर्म के 'आत्मविजय' के आदर्श को हम भली-भाँति समझ सकते हैं।

इनका आध्यात्मिक सिद्धान्त उच्च कोटि का है। 'यी-किंग' में परमतत्त्व का प्रतिपादन एक सीधी रेखा के द्वारा किया जाता है। इस तत्त्व का नाम 'यांग' है जो सम्भवतः संस्कृत शब्द 'लिंग' का ही विकृतरूप प्रतीत होता है। शब्द की व्युत्पत्ति जो कुछ हो, पर यह

शिव तत्त्व का द्योतक है। जब यह तत्त्व सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तब इसके प्रतीकरूप सीधी रेखा बीच में टूटी दिखलाई जाती है। यह जगत् के द्वितीय तत्त्व का प्रतिनिधि है जिनका नाम 'यीन' है। यह शब्द संस्कृत 'योनि' का विकृतरूप प्रतीत होता है। यह शक्ति या माया के समान है। जिस प्रकार तन्त्रों में शिव-शक्ति के परस्पर मिलन से जगत् की सृष्टि होती है, उसी प्रकार 'यांग' और 'यीन' के सम्पर्क से जगत् उत्पन्न होता है।

इन दोनों के परस्पर मिलन की स्थिति चार प्रकार से होती है जिनका प्रदर्शन दो रेखाओं के द्वारा किया जाता है। ये क्रमशः सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा चन्द्रमा के द्योतक माने जाते हैं। इन चारों से आठ तत्त्व निकलते हैं जिनका निदर्शन तीन रेखा में करती हैं। इन तत्त्वों के नाम है—(१) ख्येन = मोक्ष, (२) तुएइ (दलदल) (३) ली = अग्नि, (४) सुएन = वायु, (५) चेन = वज्रध्वनि, (६) खाँ = जल, (७) केन = पर्वत, (८) खुएन = पृथ्वी। इनका भी आपस में संमिश्रण होता है जिससे ६४ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इनका निर्देश ६ भागवाली रेखायें करती हैं। इन्हीं ६४ तत्त्वों का समुदाय यह संसार है।

ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जिसका परिचय 'यी-किंग' से नहीं चलता। इस लिए इसके चिन्हों के द्वारा ज्यौतिष, वैद्यक, गणित, संगीत, धर्म, न्याय, मोक्षशास्त्र—आदि ऐहिक तथा पारलौकिक विद्याओं का ज्ञान योग्य व्यक्तियों को लग सकता है। इस मार्ग की साधना बड़ी कठिन है तथा सर्व-साधारण के उपयोगी न होने से वह गुप्त ही रखी जाती है। पर इस धर्म के साधुओं में चीन देश की आध्यात्मिकता को आगे बढ़ाया। आज कल चीन में बौद्ध-धर्म का विपुल प्रचार है। परन्तु फिर भी विद्वानों की दृष्टि में ताओ धर्म तथा उसके ग्रन्थों का विशेष आदर है[1]।

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य—(क) 'सिद्धान्त' वर्ष २, अंक २८ तथा (ख) Giles : The Civilisation of China (पृ० ५८–६२)।

(१२) महाराष्ट्र के चार संत-संप्रदाय

भारतवर्ष में संत-महात्माओं की संख्या जिस प्रकार अत्यंत अधिक रही है, उसी प्रकार उनके द्वारा स्थापित संप्रदायों की भी संख्या बहुत ही अधिक है। समग्र भारत के संप्रदायों के संक्षिप्त वर्णन के लिए कितने ही बड़े-बड़े ग्रंथों की जरूरत पड़ेगी। वह भी किसी एक विद्वान् के मान की बात नहीं। इस प्रकरण में केवल महाराष्ट्र देश में ही समुद्भूत संतों के द्वारा संस्थापित, सुप्रसिद्ध चार सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। अपेक्षाकृत नवीन संप्रदाय का पहले, तदनंतर क्रमशः प्राचीन संप्रदायों का विवरण उपस्थित किया जावेगा।

१—रामदासी

इन चारों सम्प्रदायों में अपेक्षाकृत सबसे अर्वाचीन यही रामदासी संप्रदाय है। फिर भी यह तीन सौ वर्ष से कम पुराना नहीं है। इसकी स्थापना छत्रपति शिवाजी के गुरु, समर्थ स्वामी रामदास जी ने की थी। स्वामी जी का जन्म १६०८ ई० में हुआ था और वैकुंठ-लाभ १६८२ ई० में। इस प्रकार १७वीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल में इस संप्रदाय की स्थापना हुई। स्वामी रामदास के जीवन की मोटी-मोटी घटनाएँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि उन्हें दुहराने की जरूरत नहीं। इतना तो सब लोग जानते हैं कि स्वामी जी की ही शिक्षा तथा उपदेश का यह फल था कि छत्रपति शिवाजी के मनमें सनातनधर्म के ऊपर अवलंबित हिंदू-राष्ट्र की संस्थापना का विचार उत्पन्न हुआ, और उन्होंने उस विचार को कार्य-रूप में भी बड़ी योग्यता से परिणत कर दिखाया। संसार के दुःखद प्रपंच से घबड़ा कर निवृत्ति में ही सुख के मार्ग को बतलाने वाले बहुत से महात्मा मिलेंगे, परंतु पात्रापात्र का विशद विचार कर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों

के यथायोग्य सम्मेलन पर जोर देने वाले संत-जन कम ही दीखते हैं। स्वामी रामदास जी इस दूसरे प्रकार के महात्माओं में अग्रणी थे। अतः इस रामदासी संप्रदाय का मुख्य अंग समाज की ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह की उन्नति करना है। स्वयं स्वामी जी ने हरिकथा-निरूपण, राजकारण तथा सावधानपना या उद्योगशीलता को अपने संप्रदाय का मुख्य लक्षण बतलाया है। प्रयत्न, प्रत्यय और प्रबोध—इन्हीं तीन शब्दों में रामदास के जीवन तथा ग्रंथों का सार है।

रामदासी तथा वारकरी संप्रदायों में इसी कारण भेद दिखाई पड़ता है। वारकरी संप्रदाय तो संपूर्ण रूप से निवृत्तिपरक है, परंतु रामदासी संप्रदाय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का यथानुरूप मिश्रण किया गया है। यही इसकी विशिष्टता है।

'मानपंचक' में स्वामी जी ने कहा है—

रामदासीं ब्रह्मज्ञान सारासारविचारणा।
धर्मसंस्थापने साठीं कर्मकांड उपासना॥

सदा जागरूक रहना और यत्न करते रहना—इन दोनों पर स्वामी जी का विशेष पक्षपात था। इन दोनों के आश्रय से केवल ऐहिक सुख की ही प्राप्ति नहीं मिलती, प्रत्युत पारलौकिक सुख की भी प्राप्ति सहज में हो सकती है। यहाँ राज्य की प्राप्ति हो सकती है, तो वहाँ स्वाराज्य की। अतः इन्हें उन्होंने बड़े महत्त्व का बतला कर सदा जागरूकता की सुंदर शिक्षा दी है।

राक्षसों के बंदीगृह से ऋषियों और देवताओं के उद्धार करने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र इस संप्रदाय के उपास्य देवता हैं, तथा दास-मारुति के स्थान पर भीममारुति की उपासना यहाँ प्रचलित है। रामदास को महात्मा लोग हनुमान् जी का अवतार मानते हैं। सं० १५६७–७१ शक में हनुमान जी की भिन्न-भिन्न स्थानों पर ११ मूर्तियों की स्थापना स्वामी जी ने की। काशी में भी रामदास द्वारा स्थापित हनुमान जी हैं।

इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य यह है कि इसके अनुयायी गीता में प्रति-पादित कर्मयोग के सच्चे मार्ग पर शुद्ध मन से चलें, जिससे उनका दोनों लोक बन जाय। इसमें गृहस्थ भी हैं और विरक्त भी। विरक्तों के लिए ब्रह्मचारी रह कर भिक्षा पर अपनी जीविका चला कर निष्काम बुद्धि से समाज का धारण-पोषण करना और साथ ही आत्म-ज्ञान का संपादन करना आदर्श बतलाया गया है।

'दासबोध' तथा स्वामी जी के अन्य ग्रंथ इस सम्प्रदाय के भाषा-ग्रंथों में परम माननीय हैं। सं० १५७० शक से स्वामी जी ने जो राम-नवमी का उत्सव आरंभ किया वह आज तक बड़े समारोह के साथ किया जाता है। हजारों की भीड़ सिंहगढ़ आदि स्वामी जी से संबद्ध पवित्र स्थानों पर जुटती है, और कई दिनों तक लगातार 'रघुपति राघव राजा राम, पतितपावन सीताराम' मंत्र का गगन-भेदी कीर्तन होता रहता है। इसकी सांप्रदायिक पद्धति अलग है, तथा रामनवमी के उत्सव मनाने की भी विधि रामदास जी ने ही लिख रक्खी है। स्वामी जी ने राममंत्र के ४९ श्लोक लिखे हैं जो प्रख्यात हैं। उनमें से केवल दो श्लोकों को यहाँ उद्धृत कर और 'मनोबोध' का परिचय दे कर हम 'रामदासी' के संक्षिप्त वर्णन को समाप्त करते हैं—

तुला हि तनू मानवी प्राप्त झाली।
बहू जन्म पुण्यें फला लागिं आली॥
तिला तूं कसा गोंविसी विषयीं रे।
हरे राम हा मन्त्र सोपा जपा रे॥
कफें कंठ हा रुद्ध होईल जेव्हां।
अकस्मात तो प्राण जाईल तेव्हां॥
तुला कोण तेथे सखे सोयरे रे।
हरे राम हा मंत्र सोपा जपा रे॥

रामदास स्वामी ने मन को संबोधन कर संसार की माया को छोड़

देने और भगवान् की ओर लगने के जो विमल तथा स्फूर्तिदायक उपदेश दिए हैं वे 'मनोबोधाचे श्लोक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। रामदासी लोगों में ये पद्य भी खूब प्रसिद्ध हैं। ये सुंदर श्लोक मन पर तुरंत असर करनेवाले हैं। प्रातःकाल उठ कर राम का चिंतन और रामनाम का भजन करने तथा सदाचार न छोड़ने की कैसी सुंदर शिक्षा मन को दी गई है—

प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा।
पुढें वैखरी राम आधी वदावा॥
सदाचार हा थोर सोडूं नये तो।
जनीं तोचि तो मानवीं धन्य होतो॥

मन! तू सङ्कल्प-विकल्प छोड़ कर एकांत में रमाकान्त के भजन में सदा लगा रह—

मना! अल्प सङ्कल्प तोही नसावा।
सदा सत्यसङ्कल्प चित्तीं वसावा॥
जनीं जल्प विकल्प तोही त्यजावा।
रमाकांत येकांत कालीं भजावा॥

२—सत्पंथ

यह विचित्र पंथ महाराष्ट्र के धार्मिक सम्प्रदायों में अन्यतम है। विचित्रता यह है कि इसे चलाया एक मुसलमानी फ़कीर ने, पर इसे मानते हैं हिंदू और इसे वैदिक धर्म के विधि-आचार जैसे मौंजी-बंधन, शिखा-सूत्र, चार वर्ण और चार आश्रम आदि सब मान्य हैं। खानदेश के फ़ैजपुर में (जहाँ कभी कांग्रेस हुई थी) सत्पंथियों का एक प्रसिद्ध धर्म-मंदिर है। उसी मठ के अधिकारी ने इस सम्प्रदाय का संक्षिप्त वर्णन लिखा है जो 'महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के २९वें भाग में प्रकाशित हुआ है उसीके आधार पर यह प्रामाणिक वर्णन दिया जाता है।

सन् १४४९ ई० में इसे इमाम शाह नामक मुसलमानी फ़कीर ने

स्थापित किया। ये ईरान के निवासी थे और घूमते-घामते गुजरात में आए थे। अहमदाबाद से नौ मील दक्षिण गीरमथा गाँव के पास ये रहते थे। पहुँचे हुए सिद्ध थे। इनके चमत्कार को देखकर अनेक लोग इनके भक्त बन गये। बाबा के पाँच पट्ट शिष्य हुए जिनमें एक मुसलमान था और चार हिंदू। मुसलमान शिष्य का नाम हाजर बेग, तथा हिंदू शिष्यों का भाभाराम, नागाकाका, साराकाका था। पाँचवी शिष्या थी। यह चिचिबाई भाभाराम की बहिन थी। इस पंथ के अनुयायियों की संख्या काठियावाड़, गुजरात में खूब अधिक है। महाराष्ट्र में खानदेश के गाँवों में ही विशेष करके सत्पंथी गृहस्थ पाये जाते हैं।

'पिराणा' नामक स्थान में इमाम शाह की गद्दी है, जहाँ पर प्रत्येक मास की शुक्ल द्वितीया, गोकुलाष्टमी, रामनवमी, ध्रुवाष्टमी तथा भाद्र के शुद्ध एकादशी को बड़ा मेला लगता है जिसमें हिंदू लोग हजारों की संख्या में भाग लेते हैं। इस मत में ब्राह्मण भी हैं, परंतु अधिक संख्या बनिया, कुनबी तथा नोनिया आदि जातियों की है जो इमामशाही कहलाते हैं। इस शाखा में मुसलमान शिष्य बिल्कुल नहीं हैं। गद्दी पर ब्रह्मचारी के ही बैठने की चाल है और वह लेवा (घर बनाने वाले) पाटीदार जात का होता है। फ़ैज़पुर में और खानदेश के अन्य गाँवों में भी इनकी खासी संख्या है।

ये लोग भागवत, रामायण, गीता आदि धर्म-ग्रंथों को तो मानते ही हैं, साथ ही इमाम शाह के लिखे गुरूपदेश को भी मानते हैं, जिसमें हिंदू-धर्म के ग्रंथों के वचन संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त इस मत के २१ विशिष्ट ग्रंथ हैं जो अधिकांश गुजराती और हिंदी में लिखे गए हैं। कुछ के नाम ये हैं—'जोगबाणी' (गु०), 'बोधरास' (गु०) 'सत्-वचन' (गु० हि०), 'ब्रह्मप्रकाश' (हि०) आदि। इनके देखने से इनके मत का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। इन लोगों का गुरु-मंत्र है—'शिवोऽहम्'। यह बाल-विवाह करते हैं। विधवा-विवाह की भी चलन है। श्राद्ध

करते हैं। साथ ही मंदिरों में प्रेतात्मा की उत्तम लोक की प्राप्ति की इच्छा से 'उच्चासन' नामक विधि भी की जाती है। इस मत का साहित्य अल्प ही है।

३—महानुभाव पंथ

इस पंथ के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न नाम हैं। महाराष्ट्र में इसे महात्मा 'पंथ तथा मानभाव (जो महानुभाव शब्द का अपभ्रंश है) पंथ कहते हैं। गुजरात में अच्युत पंथ और पंजाब में जयकृष्णि पंथ के नाम से पुकारते हैं। इस नामकरण का कारण पंथ में कृष्णभक्ति की प्रधानता है। इस पंथ के वास्तविक इतिहास का पता अभी लगा है क्योंकि इसके अनुयायी अपने धर्म-ग्रंथों को अत्यंत गुप्त रक्खा करते थे। वे उसे अन्य मतावलंबियों की दृष्टि में भी आने नहीं देते थे। इस पंथ की भिन्न-भिन्न शाखाओं ने अपने धर्म-ग्रंथ के लिए एक सांकेतिक लिपि बना रक्खी है जो शाखा-भेद के अनुसार छब्बीस हैं। अतः संयोगवश इनके ग्रंथ इतर लोगों के हाथ में भी आ जायँ तो आना न आना बराबर रहता था, क्योंकि लिपि के सांकेतिक होने से वे उसका एक अक्षर न बाँच सकते थे और न समझ ही सकते थे। परंतु इस बीसवीं सदी के आरंभ से इनका कुछ रुख बदला है; इतर लोगों ने इनके ग्रंथों को पढ़ा है, और प्रकाशित किया है। स्वयं लोकमान्य तिलक ने १८९९ ई० के 'केसरी' में मानभावों पर अनेक पांडित्य-पूर्ण लेख लिखे थे। परंतु इनकी लिपि के रहस्य को ठीक-ठीक समझाने का काम किया प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राजवाड़े ने और इनके ग्रंथों के मर्म बतलाने का काम किया 'महाराष्ट्र-सारस्वत' के लेखक भावे ने और 'महानुभावी मराठी वाङ्मय' के रचयिता श्री यशवंत देशपांडे ने। इन्हीं विद्वानों के शोध के बल पर आज इनके मत, सिद्धांत, ग्रंथ तथा इतिहास का बहुत कुछ प्रामाणिक पता चला है।

महाराष्ट्र देश में मानभावों के प्रति लोगों में बड़ी अश्रद्धा है। सवेरे-

सवेरे मानभाव का मुँह देखना ही क्यों उसका नाम लेना भी अपशकुन माना जाता है। एक प्रचलित कहावत है—'करणी कसावाची, बोलणीं मानभावाची', अर्थात् करनी तो कसाई की है और बोली मानभाव की। साधारण बोलचाल में मानभाव और कसाई दोनों को एक ही श्रेणी में रखने में लोग नहीं हिचकते। मानभाव गृहस्थ अपने धर्म को कदापि नहीं प्रकट करता था। वह छिप कर अपना जीवन बिताता था। बड़े-बड़े संतों की भी यही बात थी। एकनाथ, तुकाराम आदि महात्माओं की बानी में भी मानभावों के प्रति अनादर भरा हुआ है। इस प्रकार इनका सर्वत्र तिरस्कार होता था, इनके प्रति सर्वत्र द्वेष फैला हुआ था। आज-कल यह कुछ कम हुआ है, परंतु फिर भी यह है ही। इस तिरस्कार का कारण इनके इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट मालूम पड़ता है। शक की १२वीं सदी में यह मत जनमा। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय मत के उपास्य देवता हैं। देवगिरि के यादव नरेश महादेव और रामराय इनके गुरुओं और आचार्यों को बड़े सम्मान के साथ सभा में बुलाते थे। मुसलमानों के आने से वह समय पलट गया। मानभावों ने भी मुसलमानों के हिंदू-धर्म के प्रति किए गए छल और अत्याचार को देख कर अपने धर्म के रहस्यों को छिपाया। ये लोग मूर्तिपूजा को नहीं मानते। अतः यवनों ने इन्हें मूर्तिपूजक हिंदुओं से अलग समझा और इनके साथ कुछ रियायत की। बस हिंदू लोग इनसे बिगड़ गए और इन्हें दगाबाज समझने लगे। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय से संबद्ध तीर्थ-स्थानों पर ये ,अपना 'चबूतरा' बनाने लगे। स्त्री शूद्रों के लिए भी संन्यास की व्यवस्था की। भगवा-धारी संन्यासी से भेद बतलाने के लिए इनके संन्यासी काला कपड़ा पहनने लगे। इन्हीं सब 'अहिंदू' आचारों से हिंदू जनता बिगड़ गई और इन्हें कपटी, छली, दुष्ट तथा बंचक समझने लगी। सौभाग्य-वश यह भाव समय की अनुकूलता से पलट रहा है।

इस मत का आज कल प्रचार केवल महाराष्ट्र ही में नहीं है, प्रत्युत

गुजरात, पंजाब, यू० पी० के कुछ भाग, कश्मीर तथा सुदूर काबुल तक है। हिंदुओं में वर्ण-भेद को मिटा कर सब में समानता तथा मैत्री का प्रचार करना ही इस पंथ का उद्देश्य है। इसके संस्थापक हैं चक्रधर जो भड़ोच के राजा थे और जिनका असली नाम था हरपाल देव। पीछे इन्हीं का नाम चक्रधर पड़ा। ११८५ शक में इन्होंने संन्यास की दीक्षा ली और शिष्य-मंडली इनके विचित्र चमत्कार को देखकर जुटने लगी। इन्होंने ५०० शिष्य किए जो गुजराती थे। पीछे महाराष्ट्र में यह मत फैला। इसकी भिन्न-भिन्न १२ शाखाएँ हैं, जिन्हें 'आम्नाय' कहते हैं। इन शिष्यों में प्रधान नागदेवाचार्य थे, जिनके सतत उद्योग से इसका प्रचुर प्रचार हुआ। इन्हें वेदशास्त्र सब मान्य हैं। संस्थापक भी ब्राह्मण थे तथा तीन सौ वर्षों तक ब्राह्मण ही इसके प्रमुख नेता होते थे। इनके दो वर्ग हैं—उपदेशी और संन्यासी। उपदेशी गृहस्थ हैं, वर्ण-व्यवस्था मानते हैं और उनका विवाह स्वजातीयों में ही हुआ करता है। संन्यासी स्त्री और शूद्र भी हो सकते हैं। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय उपास्य देवता हैं। गीता मान्य धर्मग्रंथ है। इस कारण चक्रधर के समय से लेकर आज तक अनेक मानभावी संतों ने स्वमतानुसार गीता पर टीकाएँ लिखी हैं। ये लोग द्वैतवादी हैं। परमेश्वर को निर्गुण निराकार मानते हैं, जो भक्तों पर कृपावश साकार रूप धारण कर लेता है।

महानुभाव सम्प्रदाय में जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं, उतने शायद ही तत्सदृश अन्य मत में हों। सबसे बड़ी विशेषता इनका प्राचीन साहित्य है। 'ज्ञानेश्वरी' (श० १२१२) ही मराठी साहित्य का आद्य-ग्रंथ अब तक माना जाता था, परंतु मानभावों के प्राचीन ग्रंथों की उपलब्धि के कारण यह मत अब बदल गया है क्योंकि ज्ञानेश्वर महाराज से पूर्व के भी अनेक मानभावी गद्य तथा पद्य ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। महींद्र भट्ट का 'लीला-चरित्र' (चक्रधर स्वामी का जीवन-वृत्त, श० ११९५), भास्कर कवि का ओवी बद्ध 'शिशुपाल-वध' और 'एकादश स्कंध

भागवत', और 'कृष्णचरित्र' (गद्य), केशव व्यास और गोपाल पंडित का 'सिद्धांत-सूत्रपाठ' (गद्य) जो इस मत का प्रधान दर्शन-ग्रंथ माना जाता है और जिसकी व्याख्या में अनेकानेक ग्रंथ बने हैं—आदि बहुत ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' से भी पूर्व के हैं। अतः मानभावों का उपकार मराठी साहित्य पर बहुत अधिक है। इतना ही नहीं, इन्होंने पंजाब जैसे यवन-प्रधान देश में अहिंसा का प्रचार किया; काबुल में हिंदू मंदिर बनाया, जिसका पहला पुजारी नागेंद्र मुनि बीजापुरकर नामक दक्षिणी ब्राह्मण था; खास महाराष्ट्र में भी मद्यमांस के निवारण का प्रयत्न किया। मराठी भाषा के ऊपर भी इनका उपकार कैसे गिनाया जाय? इन्होंने ग़ज़नी, काबुल तक मराठी भाषा का प्रचार किया। दोस्त मुहम्मद का प्रधान विचारदास, और कश्मीर के महाराज गुलाब सिंह का सेनापति सरदार भगत सुजन राय दोनों मनभावी उपदेशी थे। अतः इन्होंने मराठी को धर्म-भाषा अपने राज्य में बनाया था। आज भी लाहौर में बहुत से व्यापारी मानभावी हैं, जो अपने ख़र्चे से मानभावी ग्रंथों का प्रकाशन भी कर रहे हैं। इस मत के महंत लोग भी अब अपने धर्मग्रंथों को, जिनकी विपुल संख्या आज भी मराठी भाषा में विद्यमान है, प्रकाशित करने की ओर अग्रसर दीखते हैं। यह मराठी साहित्य के लिए शुभ अवसर है।

४—वारकरी पंथ

यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र देश की धार्मिकता की बहुमूल्य विभूति है। यह वहीं जनमा, वहीं पनपा, वहीं इसने शाखाओं का विस्तार किया और आज भी वहाँ पूरे देश भर में अपनी शीतल छाया में हजारों भक्त नर-नारियों को विश्राम दे कर सांसारिक ताप से उन्हें मुक्त कर रहा है। इस सम्प्रदाय का इतिहास लिखना क्या है पूरे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध संतों के जीवन, प्रभाव, और कार्य का प्रदर्शन करना है, क्योंकि रामदासियों की संख्या छोड़ देने पर अधिकांश महाराष्ट्रीय संत इसी

इसी पंथ के अनुयायी थे। इन संतों से परिचित होने के पहले इस पंथ के नाम का ठीक-ठीक अर्थ जान लेना नितांत उचित है।

महाराष्ट्र में पंढरपुर नामक एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। वहाँ विट्ठल-नाथ जी की मूर्ति है। 'विट्ठल' शब्द विष्णु शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। अतः विट्ठलनाथ जी कृष्णचंद्र के बाल-रूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी और कार्तिक की शुक्ला एकादशी को साल में कम से कम दो बार विट्ठल के भक्तजन पंढरपुर की यात्रा किया करते हैं। इसी यात्रा का नाम है—वारी। अतः इस पुण्य-यात्रा के करनेवालों का नाम हुआ—वारकरी। इसी कारण इस पंथ का नाम वारकरी पंथ पड़ा है। महाराष्ट्र में एक बड़े महात्मा पुंडलीक हो गए हैं, जिनकी भक्ति से प्रसन्न हो कर स्वयं कृष्णचंद्र बाल-रूप धारण कर उनके सामने प्रकट हुए, और उन्होंने उनके बैठने के लिए एक ईंट रख दी जिस पर वे खड़े हो गए। ईंट पर वह खड़ी मूर्ति श्री विट्ठलनाथ जी की है। बालकृष्ण को तुलसी बड़ी प्यारी है। अतः भक्त लोग गले में तुलसी की माला डाल कर पूर्वोक्त एकादशी को लाखों की संख्या में विट्ठल जी के मधुर दर्शन कर अपने जीवन को सफल करने के लिए जब इकट्ठे होते हैं और जब उनके भक्त कंठ से 'पुंडलीक वरदा हरि विट्ठल' मंत्र की सांद्रध्वनि गगन-मंडल को भेदन करती हुई निकलती है, तब का दृश्य शब्दों में वर्णन करने के योग्य नहीं। उस समय प्रतीत होता है कि धार्मिकता की बाढ़ आ गई हो। भक्तजनों के मनोमयूर नाचने लगते हैं। आनंद की सरिता बहने लगती है। इन में आषाढ़ी एकादशी (हरिशयनी) को तो सब से अधिक भीड़ होती है। तीन लाख से भी ऊपर भक्तजन एकत्र होते हैं। इस दृश्य की कल्पना भी वारकरी सन्तों के व्यापक प्रभाव को आज भी बतलाने में समर्थ हो सकती है।

यह वारकरी सम्प्रदाय पूर्णतया वैदिक धर्मानुकूल है। जिन्हें इसकी

उत्पत्ति में अवैदिकता की गन्ध आती है, वे गलती पर है। यह बिल्कुल भागवत-संप्रदाय है। भगवान् कृष्ण की भक्ति ही मोक्ष का प्रधान साधन है। भक्तिमार्गी होने पर भी यह पंथ माध्वादिमतों के सदृश द्वैतवादी नहीं है, प्रत्युत पक्का अद्वैतवादी है। अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मेल करा देना इस मार्ग की अपनी विशेषता है। यह भक्ति ज्ञान के प्रतिकूल नहीं है, प्रत्युत एकनाथ महाराज के कथनानुसार भक्ति मूल है और ज्ञान फल है। जिस प्रकार बिना मूल रहे फल पाने की सम्भावना नहीं रहती, उसी तरह बिना भक्ति के, ज्ञान के उत्पन्न होने की भी बात असम्भव है। भक्ति तथा ज्ञान दोनों का समन्वय इस मार्ग में है। एकनाथ जी ने अपने 'भागवत' में स्पष्ट कहा है—

भक्ति तें मूळ ज्ञान तें फळ।
वैराग्य केवळ तेथीं चें फूल॥
भक्ति युक्त ज्ञान तेथें नाही पतन।
भक्ति माता तया करित से जतन॥

भगवान् की प्राप्ति के लिए अन्य साधन बड़े कठिन हैं। यदि कोई सुलभ और सहज साधन हाथ के पास है, तो वह हरिभजन ही है। इसी लिए इन सन्तों ने हरिभजन पर इतना जोर दिया है। इनका निश्चित मत है कि श्री पंढरीनाथ की भजन द्वारा उपासना करने से भक्तों के अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है।

इस पंथ में चार सम्प्रदाय हैं—(१) चैतन्य संप्रदाय—इस मत में दो भेद हैं। एक में 'राम-कृष्ण-हरि' यह षडक्षरी मंत्र है, और दूसरे में प्रसिद्ध द्वादशाक्षरी मंत्र। (२) स्वरूप संप्रदाय—इस का 'श्री राम जय राम जय जय राम' यह त्रयोदशाक्षरी मंत्र है। इस के दो छोटे-छोटे उप-संप्रदाय हैं। (३) आनंद संप्रदाय—इस का त्र्यक्षरी मंत्र है 'श्री राम' और द्व्यक्षरी मंत्र केवल 'राम'। इस के अंतर्गत नारद,

वाल्मीकि, रामानंद, कबीर आदि संत माने जाते हैं। (४) प्रकाश संप्रदाय—इस का मंत्र है 'ॐ नमो नारायण'। इस प्रकार मंत्र के भेद से वारकरी पंथ के इतने प्रभेद हैं।

यह पंथ प्रधानतया कृष्णभक्ति-मूलक होने पर भी शिव का विरोधी नहीं है। इस में हरि और हर दोनों की एकता ही मानी जाती है। यह इस की बड़ी विशिष्टता है। स्वयं पंढरीनाथ के सिर पर शिव की मूर्ति विराजमान है, तब पंढरीनाथ के भक्त का शिव से विरोध भला कभी हो सकता है? ये लोग जिस प्रकार एकादशी के दिन व्रत रहते हैं, उसी भाँति शिवरात्रि और सोमवार को भी। इन्हीं के कारण महाराष्ट्र देश में दक्षिण देश के समान शिव-विष्णु के मतभेद का नाम निशान भी नहीं है। यद्यपि प्रधानतया विट्ठलनाथ ही उपास्य देवता है, पर साथ ही साथ अन्य हिंदू देवताओं की भी पूजा और आराधना इस मत में चलती है। ज्ञानेश्वर महाराज, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम जी इस संप्रदाय के प्रसिद्ध महात्मा हो गए हैं जिन से सम्बद्ध सब स्थान तीर्थ के समान पवित्र माने जाते हैं। इन के मान्य ग्रंथ 'भागवत' तथा 'गीता' तो हैं ही, साथ ही मराठी ग्रंथों में 'ज्ञानेश्वरी', 'एकनाथी भागवत' तथा तुकाराम के 'अभंग' इन के मान्य धर्मग्रंथ हैं जिन का पठन-पाठन गुरु-परंपरा से लिया जाता है। महाराष्ट्र में आज भी अनेक कीर्तनकार हैं जो इन ग्रंथों के सांप्रदायिक अर्थ की व्याख्या बड़ी विद्वत्ता और मार्मिकता के साथ करते हैं और आज भी इन कीर्तनकारों की बानी में जोर है, प्रभाव है, और महात्माओं की वाणी को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त सामर्थ्य है।

इस मत के सब सन्तों के परिचय देने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। इस के लिए तो एक पुस्तक लिखी जा सकती है। यहाँ पर केवल प्रसिद्ध सन्तों के ही कुछ नाम दिए जाते हैं—

संतनाम		काल : शक	समाधिस्थान
निवृत्तिनाथ		११९५–१२१९	त्र्यंबकेश्वर
ज्ञानेश्वर महाराज		११९७–१२१८	आलंदी
सोपान देव		११९९–१२१८	सासवड
मुक्ताबाई	...	१२०१–१२१९	एदलाबाद
विसोबा खेचर	...	१२३१	...
नामदेव	...	११९२–१२७२	पंढरपुर
गोरा कुंभार	...	११८९–१२३९	तेर
सावता माळी	...	१२१७	अरणभेंडी
नरहरी सोनार	...	१२३५	पंढरपुर
चोखा मेळा	...	१२६०	पंढरपुर
जगमित्र नागा	...	१२५२	परळी (वैजनाथ).
कूर्मदास	...	१२५३	लऊळ
जनाबाई	...	...	पंढरपुर
चांगदेव	...	१२२७	पुणतांबे
भानुदास	...	१३७०	पैठण
एकनाथ	...	१४७०–१५२१	पैठण
राघव चैतन्य	...	...	ओतूर
केशव चैतन्य	...	१३९३	गुलबर्गा
तुकाराम	...	१५७२	देहू
निळोबा राय	...	...	पिंपलनेर
शंकर स्वामी	...	...	शिरूर
मल्लापा	...	...	आलंदी
मुकुन्द राज	...	...	आवें
कान्होपात्रा	...	...	पंढरपुर
जोगा परमानंद	...	...	बार्शी

ये सब सन्त महात्मा कृष्णभक्ति के प्रसारक हुए। इनमें बड़ा-छोटा कहना अपराध है। फिर भी इन में से चार महात्माओं ने कृष्ण-भक्ति के देवालय को महाराष्ट्र में बनाया और सजाया। पंथ की उत्पत्ति का पता नहीं, परंतु ज्ञानदेव महाराज ने इस मंदिर का पाया 'ज्ञानेश्वरी' के द्वारा खड़ा किया ; नामदेव ने अपने भजनों से इस का विस्तार किया एकनाथ महाराज ने अपने 'भागवत' की पताका फहराई और तुकाराम महाराज ने अपने अभंगों की रचना कर इस के ऊपर कलश स्थापन किया। तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने अपने निम्नलिखित अभंगों में इसी बात को कितने सरल शब्दों के कहा है—

सन्त कृपा झाली।
इमारत फला आली ॥ १ ॥

ज्ञानदेवें रचिला पाया।
रचियेलें देवालया ॥ २ ॥

नामा तया चा किंकर।
तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

जनार्दन एकनाथ।
ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥

भजन करा सावकाश।
तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

जब इतने बड़े सिद्ध पुरुषों ने अपना चित्त लगा कर इस भक्ति-मंदिर का निर्माण किया है तथा उसे अलंकृत किया है, तब उस की महिमा कैसे बतलाई जा सकती है? धन्य है वह देश जहाँ ऐसे सिद्ध पुरुष जनमे, और धन्य हैं वे महात्मा-गण जिन्हों ने सहज भाषा में भगवान् की प्राप्ति का सुगम और सुलभ मार्ग कर जन-साधारण का कल्पनातीत उपकार किया! अंत में शंकराचार्य के 'पाण्डुरंगाष्टक' से

विट्ठलनाथ की स्तुति में एक पद्य तथा 'ज्ञानेश्वरी से' कुछ ओवियाँ उद्धृत कर यह प्रसङ्ग समाप्त किया जाता है—

महायोग पीठे तटे भीमरथ्यां
वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्म लिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम् ॥

जय जय देव निर्मल । निजजनाखिलमंगल ।
जन्म जरा जलद जाल । प्रभञ्जन ॥ १ ॥
जय जय देव प्रबल । विदलितामङ्गलकुल ।
निगमागम द्रुमफल । फलप्रद ॥ २ ॥
जय जय देव निश्चल । चलित चित्तपान तुन्दिल ।
जगदुन्मीलनाविरल । केलिप्रिय ॥ ३ ॥
जय जय देव निष्फल । स्फुरदमन्दानन्द बहल ।
नित्यनिरस्ताखिलमल । मूलभूत ॥ ४ ॥

—ज्ञानेश्वरी

दर्शन खण्ड

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

—न्यायभाष्य ।

—⊜⊜—

[योग शास्त्र]

(१) ऐतरेय आरण्यक में प्राणविद्या

उपक्रम

भारतीय दर्शन में प्राणविद्या का विशेष महत्त्व है। इस विद्या का जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने किया था, उतना शायद ही किसी अन्य देश के विद्वानों ने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणोपासना की विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राण के वास्तविक महत्त्व को समझना, इस शरीर तथा बाह्य जगत् में उसके सच्चे कार्य तथा व्यापक प्रभाव को परखना, तथा किसी देवता का आरोप कर उसकी उपासना करना—ये सब सिद्धान्त इस भारत-भूमि पर ही हमारे पूर्वजों की सात्त्विक बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्क के कारण ही प्राचीन काल में उत्पन्न हुए तथा अब भी हम में किसी-न-किसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कब से चली? यह कहना बिल्कुल

असम्भव है, परन्तु जब हमारे साहित्य तथा धर्म का प्रथम प्रभात हुआ, तभी से इस विद्या का उदय हुआ होगा, यह हम बिना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओं में, विशेषतः ऋक् तथा अथर्ववेद की संहिताओं में, इस विद्या का समुल्लेख सब से पहले किया गया मिलता है। विद्वानों को यह बात अपरिचित नहीं कि उपनिषदों में प्राणविद्या भरी पड़ी है, परन्तु उपनिषदों में नहीं; प्रत्युत आरण्यक तथा संहिता में इस विद्या का यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। बहुत से विद्वानों को यह सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिल्कुल ठीक। इस महत्त्वपूर्ण प्राणविद्या के प्रथम निर्देश तथा संकेत उपनिषदों से पूर्व वैदिक संहिताओं तथा आरण्यकों में भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठों के पढ़ने वाले को अवश्य हो जायगा।

ऋग्वेद में प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यक के प्राणविद्याविषयक अध्यायों में (२।१-३) ऋग्वेद के लगभग आठ या दस मन्त्रों को प्रमाण के लिये उद्धृत किया गया है। प्राण समस्त विश्व को व्याप्त किये हुए हैं, इस विषय में यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कह कर दिया गया है[1]—

> अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
> मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
> स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
> आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः[2]॥

इस मन्त्र के द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राण को देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियों का गोपा

---

१. ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम संस्करण पृ० १०६।

२. ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१७७।३

(रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होने वाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियों के द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिका के द्वारा क्षण-क्षण में इस शरीर में आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीर में—अध्यात्मरूप में—वायु के रूप में है, परन्तु आधिदैवरूप में सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष
ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीते।
—(प्रश्नोपनिषद् १। ७)

यह प्राण आदित्य रूप से मुख्य तथा अवान्तर दिशाओं को व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनों के मध्य में बारम्बार आकर निवास करता है। इस मन्त्र से यही सारांश निकलता है—सर्वं ह्रीदं प्राणेनावृतम्[1]। इस समस्त विश्व के देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायु के द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जब तक उसका इस देह में वास है, यह शरीर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिये ऋग्वेद का यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
(१। १६४। ३८)

यह प्राण इस शरीर में स्वधा—अन्न के द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादि के निकालने के लिये अधोभाग में जाया करता है तथा श्वास के लिये मुख आदि ऊर्ध्वभाग में सञ्चरण किया करता है अर्थात्

---

१. ऐत० आर० पृ० १०८।

वह अपान तथा प्राण के रूप में शरीर के सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरण धर्मवाले शरीर के साथ सदा एक स्थान पर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविध-व्यापार सम्पन्न हैं तथा आपस में विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जाने पर शरीर पृथ्वी पर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर लोकान्तर में चला जाता है। इन दोनों में से देह को मनुष्य अन्नपान के द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राण को अन्न और पान से कोई भी नहीं बढ़ा सकता। प्राण की महत्ता को ऋग्वेद की संहिता में ही स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्या का वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में उपलब्ध होता है।

प्राण की श्रेष्ठता

सब इन्द्रियों में कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदों में एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिका के द्वारा दिया गया है। इस विषय का वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२ १-१२) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६-१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यक में भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के पहले अध्याय के चतुर्थ खण्ड में यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीति से दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियों में आपस में यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्त में उन्होंने कहा कि हम लोग इस शरीर से निकल चलें; जिसके निकल जाने पर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया; यह देह बिना देखे

खाते पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मन के निकल जाने पर भी यह शरीर मूँदे हुए की तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राण के बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इस पर भी प्राण की श्रेष्ठता के विषय में इन्द्रियों को निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपस में झगड़ा करती ही रहीं। अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करने पर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उक्थ है—वही हम में श्रेष्ठ है। वागिन्द्रिय पहले घुसी, परन्तु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन बारी-बारी प्रवेश करते गये, परन्तु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहले की भाँति ही सोया-सा रहा—पृथ्वी पर से उठ नहीं सका। अन्त में प्राण ने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करते ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अतः प्रतिज्ञा के अनुसार प्राण ही उक्थ माना गया। वही सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ माना गया। (ऐत० आर० पृ० १००—१०१)

प्राण की उपासना

प्राण की सब इन्द्रियों में श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के अनन्तर उसकी उपासना के प्रकार का विस्तृत वर्णन इस आरण्यक में किया गया है। हमारे शास्त्रों में इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की एकता पर सर्वत्र जोर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारों से हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा प्रतिनिधि यह हमारा लघु शरीर है। अतः भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकार से एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूप में समभाव से व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्य जगत् में जो विश्व का पोषक आदित्य है, इस शरीर में सब इन्द्रियों की स्थिति का कारण वही प्राण है। श्रुति में प्राण तथा आदित्य की एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—'आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष चाक्षुषं प्राण-

मनुगृह्णीते' (प्रश्न० १।७) आरण्यकों में भी इसी एकता का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। अतः जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासना का विषय है, उसी प्रकार इस शरीर में प्राण भी हमारी उपासना का विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राण की उपासना सदा किया करें।

प्राण की महिमा

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐत० आर० २।१।६)

अर्थात् प्राण इस विश्व का धारक है। 'प्राण की ही शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त जीव इस प्राण के द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्व का जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रों के सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। 'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्' (प्राण से यह सारा जगत् आवृत है।) वह विश्व का धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्र में इसीलिये प्राण को 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयु का कारण है। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण के यह आयुष्कारक होने की बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः। (१।२)

जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तभी तक आयु है। अतः श्रुति मन्त्रों में प्राण के लिये 'गोपा' शब्द का व्यवहार उचित ही है।

प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र

अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राण की सेवा में लगे रहते हैं। अन्तरिक्ष का अनुसरण करके ही प्राणिमात्र का सञ्चरण होता है और अन्तरिक्ष की सहायता से ही आदमी दूर स्थान पर कहे गये शब्दों को सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राण की परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राण को तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राण की सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यक में प्राण के स्रष्टा तथा पिता होने की बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति; अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करने के लिये प्राण के भिन्न-भिन्न गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप से किया गया है। तत्तद्रूप से प्राण का ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपों से उपासना करने से फल भी तदनुरूप ही उपासक को प्राप्त होंगे।

प्राण ही अहोरात्र के रूप में कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सवेरे प्राण सब इन्द्रियों को इस शरीर में अच्छी तरह से फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देख कर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्राताथि' अर्थात् प्रकर्षरूप से प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिन के आरम्भकाल को जिस में प्राण का प्रसरण दृष्टि-गोचर होता है 'प्रातः' (सवेरा) कहलाता है। दिन के अन्त होने पर इन्द्रियों में संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस काल को 'सायं' कहते हैं। विकास के कारण दिन प्राण रूप है और

संकोच के हेतु रात्रि अपान है। प्राण का ध्यान इस प्रकार अहोरात्र के रूप में करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग् में अग्नि देवता का निवास है; चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राण में इन सब देवताओं की भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषि ने प्राण के इस रूप को जाना था तथा प्राण की देवता-रूप से उपासना की थी। इस उपासना का विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ (ऐत० आर० पृ० १०३। १०४)।

प्राण ही ऋषि रूप है। ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है। प्राण ही शयन के समय में वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रति के समय में वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपान के संयोग को ही गृत्समद कहते है, प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण से मित्र है (विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः)। प्राण को देख कर वागाद्यभिमानी देवताओं ने कहा, 'यही हम में वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हम में श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवों में 'वाम' होने से प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विश्व को पाप से बचाया है (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होने से मनुष्य के देह को 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओं ने प्राण को देख कर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है। प्राण ही सब

से बढ़ कर वास या निवास का हेतु है। अतः वह वसिष्ठ हुआ। इन निर्वचनों से यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि-रूप है। अतः प्राण में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियों की भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यक में यहाँ तक प्राण के विषय में कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, पृ० १२१)।

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राण को ही इन रूपों में समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये। प्राण के इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणों को जान कर तत्तद्रूप से उसकी उपासना करनी चाहिये।

---

(२) उपनिषदों में योगचर्या

उपनिषदों में योग का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। आरण्यकों में निहित बीजों का उद्गम यहाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उपनिषदों में सर्वत्र योग का निर्देश है, परन्तु ऐसे भी उपनिषद् हैं जिनका प्रधान विषय ही योगचर्या है। ऐसे उपनिषद् संख्या में २१ हैं जिनमें बीस तो पहिले से प्रसिद्ध हैं, परन्तु अन्तिम योगराजोपनिषद् अभी अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित हुआ है। इन्हीं उपनिषदों का वर्णन यहाँ क्रमशः किया जा रहा है:—

१—अद्वयतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रय के अनुसन्धानद्वारा तारकयोग का साधन कहा गया है।

२—अमृतनादोपनिषद्—इस में षडङ्गयोग का वर्णन है। ये षडङ्ग प्रसिद्ध षडङ्ग से जरा भिन्न हैं। यहाँ के षडङ्ग ये हैं—

प्रत्याहारस्तथा ध्याणं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहाता है।' तर्क का लक्षण यह है—आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते। 'आगम से अविरुद्ध अनुमान तर्क कहाता है।'

आसनों का उल्लेख समाधिसिद्धयुपाय में यों किया है—

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः॥

'उत्तराभिमुख होकर पद्मक या स्वतिक या भद्र या बद्ध योगासन।'

३—अमृतबिन्दूपनिषद्—मन ही बन्धन का कारण है। 'बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥' 'विषयासक्त मन बन्ध का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरुद्ध मन जब अपने अभाव को प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभी तक हृदय में मनका निरोध करना चाहिये जब तक उसका क्षय न हो जाय। इसी को ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्याय का विस्तार है।'

इसके अनन्तर ज्ञान का स्वरूप तथा ध्यान का प्रकार कहा गया है।

४—क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेप से कहे गये हैं। 'आसन-

मवस्थितः' कह कर छोड़ दिया है ; किसी आसन-विशेष का नाम नहीं लिया है ।

८—तेजोबिन्दूपनिषद्—यह जरा बड़ा उपनिषद् है । इस में छः अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में परब्रह्म-स्वरूप, तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है । पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

> यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
> आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥
> प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
> आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देह-साम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रम से बताये हैं ।'

यम आदि का स्वरूप भी भिन्न ही प्रकार से कहा गया है । उदाहरणार्थ यम का लक्षण देते हैं—

> सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
> यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही यम कहाता है । इसी का बारम्बार अभ्यास करना चाहिये ।'

द्वितीय अध्याय में अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावना द्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया है । तृतीयाध्याय में ब्रह्मानुभव का वर्णन है । चतुर्थ-अध्याय में जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदि का वर्णन है । बाकी के तीन अध्यायों में वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ के अभेद का निरूपण है ।

९—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है । योग दो प्रकार का है—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग ।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

'विहित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मन का ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है ।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥

'और श्रेयोऽर्थ में चित्त का सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये । यह ज्ञानयोग सब सिद्धियों का देने वाला और मङ्गलकारक है ।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है । अष्टाङ्ग वे ही प्रसिद्ध अष्टाङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान कौर समाधि ।

यम—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ दया, ६ आर्जव, ७ क्षमा, ८ धृति, ९ मिताहार, १० शौच ।

नियम—१ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान, ५ हरि का आराधन, ६ वेदान्तश्रवण, ७ ह्री, ८ मति, ९ जप, १० व्रत ।

आसन—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ वीर, ४ योग, ५ पद्म, ६ बद्ध-पद्म, ७ कुक्कुट, ८ उत्तान कूर्मक, ९ धनु, १० सिंह, ११ भद्र, १२मुक्त, १३ मयूर, १४ सिद्ध, १५ मत्स्य, १६ पश्चिमतान, १७ सुख ।

प्राणायाम—प्राणायाम बतलाने के पहले अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु आदि का विशद वर्णन दिया गया है । केवल कुम्भक, सहित तथा नाडीशोधक प्राणायाम, प्राणायाम फल, प्राण धारण से रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहा गया है ।

प्रत्याहार—

यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥

'यदि अठारहों मर्मस्थानों में से प्रत्येक स्थान में (मन से परमात्मा को) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।'

इसके अनन्तर १८ मर्मस्थानों के नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जङ्घामध्य, ऊरुमध्य और मूल, पायु, हृदय, शिश्न, देह-मध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल।

धारणा—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः।

धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम्॥

'इस पाञ्चभौतिक देह के पाँचों भूतों में, यमादि से युक्त मन का धारण करना ही धारणा है, वह संसारसागर से तारने वाली है।'

ध्यान—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः।
स्वरूपव्याहरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्॥

स्वरूपव्याह रूप परम परमात्मा वासुदेव का चिन्तन ही ध्यान है। वह कैवल्यसिद्धि का देने वाला है।' ध्यान दो प्रकार का है—सगुण तथा निर्गुण।

समाधि—

अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः॥

'मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थिति को समाधि जानो, उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती।'

सुषुप्तिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते॥

'सोया हुआ-सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपद का आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है।'

७--दर्शनोपनिषद्—सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेय से पूछते हैं और वह अष्टाङ्गयोग कहते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। यम और नियम ऊपर कहे हुए दस-दस हैं। यहाँ उनके प्रत्येक के लक्षण दिये हुए हैं। आसन ९ दिये गये हैं--१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ पद्म, ४ वीर, ५ सिंह, ६ भद्र, ७ मुक्त, ८ मयूर, ९ सुख या सम। इसके अनन्तर देह का वर्णन है। नाडी, वायु, नाडी के देवता, नाड़ियों में संवत्सरात्मप्राणसूर्य सञ्चार अन्तस्तीर्थ आदि का बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गों का भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदों में एक उत्तम उपनिषद् है।

८–ध्यानबिन्दूपनिषद्—ब्रह्मध्यानयोग (प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यान द्वारा) पहले प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्त में नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९–नादबिन्दूपनिषद्—इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

१०–पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्मा की हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञ रूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११–ब्रह्मविद्योपनिषद्—प्रणव की चारों मात्राओं का वर्णन देकर सुषुम्ना के विषय में यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तु के समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्य-सदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्य को भेदकर परम को प्राप्त होती है और मूर्धा में बहत्तर हजार नाड़ियों को भेदकर सब को व्याप्त कर रहती है।'

नाद के द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूप निरूपण, हंसविद्या, हंसयोगी के द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२–मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—पहले-पहले अष्टाङ्गयोग कहा है। चार यम कहे गये हैं—शीतोष्णाहार-निद्राविजयः, सर्वदा शान्ति, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः। तदनन्तर नव नियम हैं—गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः। और सब अङ्ग प्रसिद्ध रीति से ही कहे गये हैं। यह उपनिषद् अधिकांश तारकयोग तथा अमनस्क योग में ही लगाया गया है।

तद् योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधान से दो प्रकार का है, पूर्व में करने का तारकयोग और बाद का अमनस्क योग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्ति तारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनों का ही मनोयोग से अभ्यास करना चाहिये।...उत्तर योग अमनस्क योग है।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः।
'तालुमूलके ऊर्ध्व भाग में महज्ज्योति है। उसके दर्शन से अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं।'

१३–महावाक्योपनिषद्—इन छोटे से उपनिषद् में हंस विद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है।

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावा-

दित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

'काण्डान्तर में जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य हैं वही विद्या हैं, अन्य कोई नहीं। 'असौ आदित्यो ब्रह्म' यही आदित्य ब्रह्म है जिसका 'हंसः सोऽहम्' इस अजपा मन्त्र से निर्देश किया जाता है। प्राणापान की अनुलोम और प्रतिलोम गति से वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकाल के अभ्यास से वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्म का ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४–योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

'चित्त के दो हेतु हैं, वासना और प्राण। इनमें से किसी एक के नष्ट होने से दोनों का नाश होता है। इनमें से पहले सदा प्राण को ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।'

इस सिद्धान्त को कहकर आसन प्राणायामादि द्वारा कुण्डलिनी योग प्रथम अध्याय में कहा गया है। द्वितीय अध्याय में खेचरी, मन्त्र द्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यास द्वारा, कही गयी है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५–योगचूडामण्युपनिषद्—चक्र, नाडी, वायु आदि का तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवाले को भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडी शोधनादि द्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है।

१६-योगतत्त्वोपनिषद्—मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान तथा योग दोनों आवश्यक है।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

'योग के बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष का देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है।' योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः। इस उपनिषद् में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोग का सविस्तर वर्णन है।

१७-योगशिखोपनिषद्—यह उपनिषद् बड़े महत्त्व का है। विषय तो वही है जो योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है किन्तु यहाँ बड़े विस्तार से तथा प्रकारान्तर से कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। यहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रोलयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं।' इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकार से कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः। 'रज और रेत के योग से राजयोग होता है।'

योग का सामान्य स्वरूप—प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्। 'प्राणापान को समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े काम का है।

१८-वराहोपनिषद्—इसमें पाँच अध्याय हैं। चार अध्यायों में ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्याय में योग कहा गया है। तीन योग

हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोग के आठ अङ्ग हैं। यम १०, नियम १० और आसन ११ कहे गये हैं। अन्त में योग के कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्य बलादि साधन के योग, सम्पुट योग आदि।

१९-शांडिल्योपनिषद्—इसमें अष्टाङ्गयोग शांडिल्य से अथर्वा कहते हैं। यम १०, नियम १०, आसन ८, प्राणायाम के ३ प्रकार, प्रत्याहार ५, धारणा ५, ध्यान २ कहे गये हैं। द्वितीय तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्त में दत्तात्रेय का माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०-हंसोपनिषद्—हंसविद्या संक्षेप से प्रतिपादित है। अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१-योगराजोपनिषद्—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगों में आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं। लययोग के प्रसङ्ग में नव चक्रों का वर्णन दिया गया है। हठ तथा राजयोग के विषय में और कुछ नहीं कहा गया है।

यह २१ योगोपनिषदों का सारांश है। इन में योग के सभी विषय आ गये हैं। पीछे के ग्रन्थों में इन्हीं उपनिषदों का लिया हुआ माल मिलता है। केवल विषय ही नहीं प्रत्युत वेके-वे ही शब्द अनेक स्थलों में मिलते हैं। गोरक्ष आदि सिद्धों के ग्रन्थों में वहाँ के श्लोक वैसे-के-वैसे मिलते हैं। जो लोग कहते हैं कि योग के अङ्ग आठ से छः इन सिद्धों ने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदों को देखना चाहिये। जो लोग इन उपनिषदों को पीछे के काल का मानते हैं; उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उन में भी योग का विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्द के इस पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने के बहुत पूर्व से योगाभ्यास भारत के लोगों को अच्छी तरह से ज्ञात था। यद्यपि युज् धातु का प्रयोग मनस् शब्द के साथ तथा ऐसे ही अर्थ में ऋग्वेद में भी मिलता है, तथापि बिल्कुल स्पष्ट रूप से कठोपनिषद् में योग शब्द का प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठोपनिषद् अ० २ वल्ली। १०-११)

उपनिषदों में योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता ब्राह्मणों में योग अनेक क्रियाकलापों के साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्ष प्राप्ति के लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १। २। १२)

योग शब्द का प्रयोग दर्शन विशेष के लिये होता है या क्रियात्मक-योग के लिये होता है। उपनिषदों में दोनों अर्थों में योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपर के दोनों कठोपनिषद् के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शन के-से मत प्राचीन उपनिषदों में भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं। विज्ञलोग कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में इसे स्वयं देख सकते हैं। क्रियात्मकयोग के भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदों में भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में

षडङ्गयोग का वर्णन स्पष्ट ही देख पड़ता है। जो लोग योग का षडङ्गत्व नाथसम्प्रदाय से आया हुआ मानते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मत के पलटने में बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतर के कुछ वाक्य हम नीचे देते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
(२। ८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(१। १४)

'शरीर को त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियों को हृदय में नियत कर ब्रह्म रूप नौका से विद्वान् सब भयानक प्रवाहों को तर जाय। इस शरीर में प्राणों का अच्छी तरह निरोध कर के युक्तचेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिकाद्वारों से श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ों की लगाम मन को विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थन से अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे।' यह षडङ्ग योग का विशद वर्णन है।

आसनों का विस्तृत वर्णन इन उपनिषदों में नहीं मिलता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में 'समं कायशिरोग्रीवम्' मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है। ध्यानादि के लिये सिद्धासन तथा पद्मासन को छोड़

अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक है। गोरक्षनाथ ने गोरक्षपद्धति में इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थों में प्राण विद्या का बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदों में भी प्राणोपासना अनेक भावनाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गयी है[1]। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योग से प्राणों का प्राणायाम के सम्बन्ध में है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्ष के दो उपाय बताते हैं—मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओं के क्षीण होने से होता है, किन्तु प्राणजय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योग में प्राणजय पर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायाम द्वारा होता है। अत एव प्राणायाम का इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद् में यों कहा है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥

(२।२।३)

'जो प्राण को ऊपर भेजता है और अपान को नीचे फेंकता है उस मध्य में रहने वाले वामन को विश्वेदेव भजते हैं।' मुण्डकोपनिषद् में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

(३।१।९)

'प्रजाओं के प्राणसहित सम्पूर्ण चित्त में वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्त में ही विशेष रूप से प्रकट होता है।' योग के सभी अंगों

---

१. छान्दोग्य० १।११।५, ४।३।३-४, ५।१।६—१५।७। १५। १, ५। १९—२४, कौषीतकि० २। १, ५, श्वेताश्वतर० १। ४—५, इत्यादि।

का वर्णन उपनिषद्वचनों से यहाँ तक हुआ है। समाधि का वर्णन भी अनेक स्थलों में मिलता है। श्वेताश्वतर में इस प्रकार वर्णन है—

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूल से धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करने पर वही चमकने लगता है उसी प्रकार उस आत्म-तत्त्व को देख कर देही एकावस्था को प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परन्तु जब देही आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को पर-प्रकाशक दीप की रीति से देखता है तब वह आत्मदेव को अज, ध्रुव, सर्व-तत्त्व विशुद्ध जान कर सब पाशों से मुक्त हो जाता है।' (२ । १४—१५)

ऊपर संक्षेप में दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उप-निषदों में भी योग के प्रत्येक अङ्ग का विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा अथवा बहुत योग का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार योग की प्राचीनता तथा व्यावहारिकता सन्देह-रहित है।

——※——

(३) श्रीमद्भागवत में योगचर्या

भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है तथा योग-शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योग के मध्य के काल में आता है। भागवत में भक्ति के साथ-साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया मिलता है। कई स्थलों पर योग-साधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्ष रूप से सङ्केतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलों पर योग का प्रत्यक्षरूप से विशद विवेचन किया गया है। योग के अप्रत्यक्ष सङ्केत प्रायः दो प्रसङ्गों में किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्ति की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत

मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के छोड़ने का जहाँ वर्णन है वहाँ भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीर-त्याग के दोनों अवसरों पर विशेपरूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है।

पहले योग-विषयक अप्रत्यक्ष निर्देशों की बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवत के प्रथम स्कन्ध में कई बार आये हैं[१]। नारदजी ने अपने जीवन-चरित से एक ऐसे प्रसङ्ग का उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियों के संसर्ग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपन में ही उनकी माता का देहपात हो गया, तब नारदजी ने उत्तर दिशा में जाकर मुनियों के मुख से सुने गये भगवान् का साक्षात्कार करने का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान में उन्हों ने भगवान् के चरणकमलों में अपना मन लगा ध्यान धरा जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्ग में 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है[२]।

(२) नारदजी के उपदेश से व्यासजी ने भगवान् की विविध लीलाओं के वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्हों ने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम में आसन मार कर भगवान् में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंग से समाहित हुआ कि उन्हों ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मनःप्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

---

१. श्रीमद्भागवत १ । ६ । १६, १७

२. ,, १ । ६ । २०

३. ,, १ । ७ । ३, ४

(३) भीष्म पितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यासजी ने ऋषि, मुनियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को भी उस स्थान पर का एकत्र किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने को आये ; श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्हों ने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की तथा अन्त समय में भगवान् में मन, वचन, दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को लगा कर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये[1]। इस प्रसङ्ग में भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से छोड़ा, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खींच कर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण-त्याग करना योग की महत्त्व-पूर्ण क्रिया समझी जाती है।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनि की पूजनीया माता थीं। बहुत आग्रह करने पर कपिल ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधि के द्वारा किया।[2]

(५) चतुर्थ स्कन्ध में सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिवजी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को जला दिया था। गोसाईंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि में सती के भस्म होने की बात लिखकर लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजी ने एक श्लोक में उसकी समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है[3]। इस पद्य की शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत चन्द्रिका-व्याख्या में बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सती ने पहले आसनजय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्ग-सञ्चालन बिल्कुल बन्द हो

---

१. श्रीमद्भागवत १ । ९ । ४३

२ श्रीमद्भागवत ३ । ३३ । २७

३ ,, ४ । ४ । २५, २६

गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में रक्खा। अनन्तर नाभिचक्र मे उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं; निश्चय बुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदान को वहीं टिकाकर सती ने अपने अङ्गों में वायु तथा अग्नि की धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊपर ले आने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजी ने ध्रुव को आसन मार प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर कर समाहित मन से भगवान् के ध्यान करने का उपदेश दिया था[1]। ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया तथा अल्प समय में ही वह भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हुआ[2]। ध्रुव को नारद ने अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्य की भागवत चन्द्रिका के देखने से लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियम का, 'कल्पितासनः' में आसन का, 'मलं व्युदस्य' में प्राणायाम तथा प्रत्याहार का, 'ध्यायेत्' में ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण धारणा तथा ध्यान का विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोग का उपदेश है।

(७) दधीचि ऋषि से देवताओं ने वज्र बनाने के लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को अङ्गीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परम योग का आश्रय लिया। उस समय उन्हें खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया[3]।

---

१ श्रीमद्भागवत ४ । ८ । ४४
२ ,, ४ । ८ । ७७
३ ,, ६ । १० । १२

(८) वृत्र ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरण कमलों में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राण छोड़े[1]।

(९) अदिति ने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यप को इस अद्भुत घटना का ज्ञान समाधियोग से बिना किसीके जनाये ही हो गया[2]।

(१०) श्रीकृष्ण के जीवनचरित में अनेक प्रसङ्ग भागवत के दशम स्कन्धमें वर्णित हैं जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य-जनक अलौकिक घटनाओं को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। अतः अलौकिक घटनाओं को उत्पन्न करना उनकी शक्ति के एक कण का कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्यों की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी, इसका उल्लेख बारम्बार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियों में श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। ब्रह्मा ने ग्वालों तथा गौओं को जब पर्वत की कन्दरा में चुराकर रख छोड़ा था, तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओं में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था[3] वह योग की 'कायव्यूह' सिद्धि का उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपों की जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था[4]। रासलीला के समय में वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमाया का आश्रय लेना

---

१ श्रीमद्भागवत ६ । ११ । २१
२ „ ८ । १७ । २२
३ „ १० । १३ । १९
४ „ १० । १९ । १४

भी एक कारण था[1]। जब यादवों के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक में जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से विना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीर के साथ अपने लोक में चले गये[2]। 'साधारण योगी अग्नि धारणा से अपने शरीर को भस्म कर देता है।' श्रीकृष्ण ने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीर को विना भस्म किये सशरीर ही अपने धाम में चले गये[3]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जीवन चरित को आदि से अन्त तक व्यासजी ने योगसिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

भागवत के तीन स्कन्धों में योग का विशेष विवरण दिया गया है— दूसरे स्कन्ध के अध्याय १ तथा २ में; तीसरे स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वें अध्यायों में कपिलजी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का

---

१ श्रीमद्भागवत १० । २९ । १

२ सयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकाभिरामां स्वतनु धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ३१ । ५-६)

३ उक्त श्लोक की व्याख्या में मान्य टीकाकारों में भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधर स्वामी के 'अदग्ध्वा' पदच्छेद को मानकर वीर राघव, विजयध्वज, जीव गोस्वामी आदि सब टीकाकारों ने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेव ने अपने सिद्धान्त-प्रदीप में 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाग्निना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत् के अदृश्य होने की तरह भगवत्तनु के अन्तर्धान होने की बात लिखी है।

उपदेश; और फिर एकादश स्कन्ध के अध्याय १३ में सनकादिकों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोग का विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियों का वर्णन, अ० १९ में यमनियमादि का वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग ।

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि । इनमें यम तथा नियम का संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्ध के अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है । पातञ्जल सूत्रों में तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकार के ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवत में उनमें से प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं ।

यम के द्वादश भेद[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियम के द्वादश भेद[2]—(१) शौच-बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन ।

इन यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठा 'असञ्चय') पातञ्जल दर्शन में भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमों में उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान (भागवत का आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जल-दर्शन में भी हैं, शेष नये हैं ।

आसन—यह योग का तीसरा अंग है । शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त

---

१ श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३३

२ ,, ११ । १९ । ३४

एकान्त स्थान में आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला नहीं हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर संकेत है। योग में अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन से बैठे तथा उस समय अपने शरीर को बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥
(श्रीमद्भा० २।१।१६)

'घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥
(३।२८।८)

'शुचि देश में आसन लगा कर आसन को जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगा कर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोक में श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर निर्देश जान पड़ता है।

प्राणायाम—प्राणों का आयाम योग का चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

(३ । २८ । ९)

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ । अगर्भ प्राणायाम वह है जिस में जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाय । सगर्भ प्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये । इन दोनों में सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है । अतः पुराणों ने उसी के करने का उपदेश दिया है । शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तर खण्ड अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥ ३३ ॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है ।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥३४॥

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौगुना है । इस लिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं ।'

विष्णुपुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम कहा गया है[1] । श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है । प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन में आवृत्ति करता जाय । ॐकार को बिना भुलाये अपने श्वास को जीते[2]—

---

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७ । ४० ।

२. श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३४ ।

अभ्यस्येन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । १७)

'इस तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे, इस ब्रह्म बीज को बिना भुलाये श्वास को जीत कर मन को एकाग्र करे।'

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल—रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आग में तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥
(३ । २८ । १०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध में 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (१४ । ३२) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३ । २८ । ९) कह कर इस से उलटे क्रम से प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहाँ 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बाद को कुम्भक और अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक। भागवत में इन दोनों का इस प्रकार वर्णन है तथा दोनों में किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश दिया गया है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाडी से वायु भर

कर वाम से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाय, तो एक मास के पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। ३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को जीत कर साधक अपनी इन्द्रियों को उनके तत्तद्विषयों से खींचे। इस कार्य में सहायता देगा निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच कर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यह हुआ प्रत्याहार।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः।

(श्रीमद्भा० २। १। १८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मयः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। ४२)

धारणा—मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम हुआ धारणा। भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलायी गयी है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से बतलायी गयी हैं। भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है[1]। भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों के धारणा तथा ध्यान करने चाहिये। अतः भागवतविहित धारणा के दो भेद हुए—

---

१. विष्णुपुराण अं० ६ अ० ७।

(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा।

सब से पहले भगवान् के स्थूल रूप में ही धारणा तथा ध्यान लगावे अर्थात् पहले भगवान् के विराट् रूप की धारणा करे। भागवत के दूसरे स्कन्ध के पहले ही अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है। स्थूल होने के कारण मूर्त रूप में मन आसानी से लगाया जा सकता है। इस धारणा का नाम हुआ वैराज धारणा। जब यह धारणा साधक के हाथ में आ जाय, तब अमूर्त रूप की धारणा करनी चाहिये। इस दूसरी धारणा—अतर्यामि धारणा का अतीव सुन्दर वर्णन भागवत के अनेक स्थलों पर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्ध का दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्ध का अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्ध का चौदहवाँ अध्याय। इन वर्णनों का आशय[२] है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल वाले अधोमुख हृत्-पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदल वाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के मण्डल को रक्खे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचंद्र वनमालधारी की मन-मोहिनी मूरति का ध्यान धरे। भगवान् के इस सुहावने रूप का जैसा वर्णन भागवत में मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

ध्यान—किसी वस्तु विशेष में अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करे। प्रत्यय की एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवत में ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिका में भगवान् के समग्र शरीर की धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अङ्ग का ध्यान करना चाहिये। अङ्गों का क्रम 'पादादि यावत् हसितं गदाभृतः' (चरणों से लेकर हँसते हुए मुख तक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अट्ठाईसवें

---

२. श्रीमद्भागवत ११। १४। ३६, ३७

अध्याय में देखने ही योग्य है। भगवान् के पैर के ध्यान से आरम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्त में मुख की मन्द मुसुकान के ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥
(३ । २८ । २१)

'उत्तम प्रकार से भगवान् के उस चरण-कमल का ध्यान करे जो चरण-कमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्स्ना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर किया है।'

× × × ×

समाधि—ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है। उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमाञ्चित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा में नहानेवाला भगवान् का भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थ से उसी भाँति अलग कर देता है जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—'चित्त-बडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'। इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुण-प्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है (भाग० ३ । २८ । ३४—३८)।

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरि में जिसका पूर्ण प्रेम-भाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो बारंबार उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा में नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़ने के काँटे) को भी

पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जाने पर दीप शिखा के महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाणपद को प्राप्त होता है। त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्म-स्वरूप को प्राप्त होता है। वह पुरुष मन की इस चरम-निवृत्ति से सुख दुःख के बाहर उस महिमा में लीन हुआ रहता है और आत्म-स्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ ऐसा पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुख दुःख का जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

(भाग० ३। २८। ३४)

इस योग की यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्ग-योग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लाव्यमान हृदय-वाला परम भागवत है। बिना भक्ति के योगविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यास जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—शरीर को केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥ ४१॥

नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥ ४२॥

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ ४३॥

(श्रीमद्भागवत ११। २८)

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिये जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्म सिद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । १९)

'अखिल आत्म-स्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान 'शिवः पन्थाः', कल्याणकारी मार्ग, योगियों के लिये ब्रह्म-प्राप्ति में और कोई नहीं है ।'

—•※❀※•—

द्वैत वेदान्त

(४) श्रीमध्वाचार्य का द्वैतवाद

भारतीय वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में श्रीमध्वाचार्य का द्वैतवा अपना विशेष महत्त्व रखता है । जहाँ शङ्कराचार्यजी अद्वैतवाद क प्रचार करते हुए इस कर्मप्रधान जगत् को मिथ्या बताते हैं, व श्रीमध्वाचार्यजी जीवन की वास्तविकता को नहीं भूलते हुए, द्वैतवाद का उपदेश देते हुए, असंख्य महापुरुषों की कर्मस्थली इस जगत् को सत्य प्रतिपादित करते हैं । जहाँ शंकर का अद्वैतवाद हमें प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्तात्मक वस्तु को भी झूठा समझने के लिये विवश करता है, वहाँ श्रीमध्व का द्वैतमत सच्ची व्यावहारिकता का पल्ला पकड़े हुए तथा जगत् को सच्चा बताता हुआ हमें त्यागमार्गी न बन कर कर्ममार्गी बनने का आदेश देता है । यदि वास्तव में देखा जाय तो शंकर के प्रसिद्ध अद्वैतवाद से इस मत की नितान्त प्रतिकूलता ही इसकी सर्वोपरि विशेषता है ।

श्रीमध्वाचार्य के द्वैत-मत की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करने के पूर्व हम इनके मत के सारांश को एक शार्दूलविक्रीडित छन्द में उद्धृत करते हैं—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतः
सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा
नीचोच्चभावं गताः ।

मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला
भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिला-
म्नायैकवेद्यो हरिः ॥

अर्थात्—मध्व-सम्प्रदाय के अनुसार (१) श्रीविष्णु ही सर्वोच्च-तत्त्व हैं ; (२) जगत् सत्य है ; (३) भेद वास्तविक हैं ; (४) जीवगण सब ईश्वर के अधीन हैं ; (५) जीवों में तारतम्य है ; (६) आत्मा के आन्तरिक सुखों का अनुभव ही मुक्ति है ; (७) शुद्ध भक्ति ही उसका साधन है ; (८) प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाण हैं ; तथा (९) वेदों के द्वारा ही हरि जाने जा सकते हैं। संक्षेप में मध्वाचार्य के ये ही सिद्धान्त हैं। इनमें से प्रत्येक का वर्णन यथास्थान विस्तार से किया जायगा।

प्रमाण-मीमांसा

श्रीमध्वाचार्य के मतानुसार केवल तीन ही प्रमाण हैं (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द। अन्य प्रमाण इन्हीं तीनों प्रमाणों के अन्तर्भूत हैं।

श्रीमध्वाचार्य ने 'प्रमाण' शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है[1]—(१) यथार्थ ज्ञान और (२) यथार्थ ज्ञान का साधन। पहले को उन्हों ने 'केवल प्रमाण' कहा है और दूसरे को 'अनुप्रमाण'। किसी वस्तु का यथार्थ अर्थात् ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना 'केवल प्रमाण' है और जिस वस्तु के द्वारा हमें वह पदार्थ-ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् जो यथार्थ ज्ञान का साधन है, उसे 'अनुप्रमाण' कहते हैं।

---

१. यथार्थज्ञानं केवलम्। तत्साधनमनुप्रमाणम् ॥
(प्रमाणलक्षणम्)

किसी वस्तु के इन्द्रिय के साथ निर्दोष सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहते हैं[1]। यदि वस्तु अथवा इन्द्रिय में दोष हो तो उस प्रत्यक्ष के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि इन्द्रियाँ विकृत हों अथवा वस्तु अत्यन्त निकट या दूर हो, अत्यन्त छोटी अथवा अत्यन्त बड़ी हो या परिस्थिति अनुकूल न हो, तो प्रत्यक्ष के द्वारा यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्ष के द्वारा यथार्थ ज्ञान होने के लिये वस्तु तथा इन्द्रिय की निर्दोषता अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष सात प्रकार का होता है। पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष तो पाँच इन्द्रियों पर अवलम्बित रहता है, छठा मन पर; और सातवाँ आत्मा अर्थात् साक्षी से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों में भी एक साधन है; इसीलिये इसे साधन या करण भी कहते हैं। जिस प्रकार साधन-रूप कुल्हाड़ी के बिना पेड़ नहीं काटा जा सकता, उसी प्रकार वस्तु तथा इन्द्रिय की सत्ता होने पर भी प्रत्यक्षरूपी साधन के बिना यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हम इन्द्रियों के सन्निकर्ष में आयी हुई वस्तुओं के ही यथार्थज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु जो वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों के सन्निकर्ष में नहीं आतीं, उनका यथार्थज्ञान हम कैसे कर सकते हैं? इसलिये श्रीमध्व ने अनुमान प्रमाण को भी माना है। आपके मत से निर्दोष उपपत्ति ही अनुमान है[2]। यह अनुमान दो प्रकार का होता है—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग होता है, जिसका विस्तृत वर्णन न्याय के ग्रन्थों में पाया जाता है।

---

१. निर्दोषार्थेन्द्रियसन्निकर्षः प्रत्यक्षम्। (प्रमाणलक्षणम्)

२ निर्दोषोपपत्तिरनुमानम्। (प्रमाणलक्षणम्)

श्रीमध्वाचार्य का मत है कि परार्थानुमान में जिन पञ्चावयव वाक्यों के प्रयोग का नियम किया जाता है, वह नितान्त अशुद्ध है। इन पाँच अवयवों में से चौथा और पाँचवाँ अवयव—अर्थात् उपनय और निगमन—बिल्कुल व्यर्थ हैं। शुद्ध न्याय-पद्धति तो यह बतलाती है कि केवल उतना ही किसी वस्तु का कथन करना चाहिये, जितना ज्ञान के लिये आवश्यक हो। यह बात केवल एक या दो अवयवों के द्वारा की जा सकती हो, तो उतना ही पर्याप्त होगा। श्रीमध्व केवल तीन अवयवों को स्वीकार करते हुए पञ्चावयव के सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका मत है कि नैयायिकों ने व्यर्थ ही निग्रह स्थानों को इतना अधिक बढ़ा दिया है। इसी प्रकार नैयायिकों के द्वारा वर्णित पञ्च हेत्वाभास भी ठीक नहीं हैं। उनका मत है कि नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह अनुमान के ही अन्तर्गत है।

श्रीमध्व का तीसरा प्रमाण 'आगम' है, जिसकी परिभाषा 'निर्दोष शब्द' है। शब्द के अन्तर्गत मौखिक तथा लिखित—दोनों प्रकार के शब्द माने जाते हैं। कोई शब्द निर्दोष तभी माना जाता है, जब वह किसी निश्चित अर्थ का बोध कराता है और वह किसी वस्तु का यथार्थ वर्णन करता है। शब्द उन्हीं लोगों का प्रमाण माना जा सकता है, जो 'आप्त' हैं। आगम दो प्रकार का होता है—(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। महाभारत, रामायण आदि पौरुषेय ग्रन्थ हैं और वेद अपौरुषेय। इनमें से पौरुषेय आगम को हम तभी प्रमाण मान सकते हैं, जब उनके कर्ता आप्त हों; परन्तु अपौरुषेय आगम सर्वदा प्रमाणभूत है। यदि केवल आप्त वाक्य को ही प्रमाण न माना जाय तो एक कुलटा के कथन को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, जिसकी अप्रामाणिकता प्रसिद्ध है। अतएव आप्तवाक्य तथा अपौरुषेय आगम को ही हम शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत मान सकते हैं, अन्य किसीको कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।

तत्त्व-मीमांसा

वेदान्त के आचार्यों में 'जगत् सत्य है या मिथ्या' इस विषय पर घोर विरोध पाया जाता है। कोई जगत् को पूर्णतः मिथ्या बतलाता है, कोई आंशिकरूप में सत्य कहता है तो कोई बिल्कुल सत्य स्थिर करता है। जहाँ चार्वाक–जैसे भूतवादियों के लिये जगत् के अतिरिक्त कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, वहाँ शङ्कर–जैसे अद्वैतवादी के लिये सारा जगत् ही मिथ्या है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' प्रसिद्ध ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् के विषय में नितान्त प्रतिकूल सिद्धान्त पाये जाते हैं। चार्वाक तथा शङ्कर के इन प्रतिकूल मार्गों की तुलना में श्रीमध्व के जगत्-सम्बन्धी सिद्धान्त को यदि हम 'मध्यम मार्ग' कहें तो कुछ अनुचित न होगा। श्रीमध्व ने उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तरूपी छोरों को छोड़कर बीच के मार्ग का अवलम्बन किया है। आपके मत से ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी। श्रीमध्व ने शङ्कर के मायावाद को खण्डन कर यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि यह जगत् माया नहीं प्रत्युत सत्य है। इस प्रकार आपने न तो ब्रह्म को न मानकर भूतवाद का आश्रय लिया है और न शङ्कर की तरह जगत् को मिथ्या ठहराकर जीवन के व्यावहारिक पक्ष का तिरस्कार किया है। दर्शनशास्त्र के रहस्यमय क्षेत्र में श्रीमध्व का यह मत भले ही सदोष जान पड़े, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर इनका सिद्धान्त अत्यन्त तर्कयुक्त और बुद्धिसम्मत जान पड़ता है। जिस जगत् में हम रहते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं, अनेक वीरता, दया तथा परोपकार के काम करते हैं, उस जगत् को हम मिथ्या कैसे मान लें? जिस संसार को महापुरुषों ने अपनी क्रीड़ा-स्थली तथा कर्म-भूमि बनाकर अनेक लोकोत्तर सार्वजनिक कार्य किये तथा अमरत्व प्राप्त किया, उसी संसार को हम झूठा या मिथ्या कैसे स्वीकार कर सकते हैं? अतएव व्यावहारिक पक्ष से तथा तर्कपक्ष से अब हम विचार

-करते हैं तो श्रीमध्वाचार्य का मत अत्यन्त तर्कयुक्त तथा बुद्धिसम्मत ज्ञात होता है।

शङ्कराचार्य का कथन है कि संसार में अविद्या या माया नाम की एक ऐसी वस्तु है, जो इस जगत् को सत्य प्रतिभासित करती है; परन्तु वास्तव में यह जगत् है मिथ्या ही। परन्तु श्रीमध्वाचार्य के मत से यह सिद्धान्त गलत है। जगत् न तो माया है और न मिथ्या, बल्कि यह सत्य है[1]। आपने जगत् की सत्यता के विषय में अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि जगत् मिथ्या नहीं है। श्रीमध्व का प्रथम सिद्धान्त यह है कि अतीन्द्रिय प्रश्नों के विषय में केवल वेद ही अन्तिम प्रमाण हैं। आपका दूसरा सिद्धान्त है कि चित् और अचित् में महान् अन्तर है और वे दोनों कदापि एक नहीं हो सकते। तीसरा सिद्धान्त यह है कि जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या या असत्य न सिद्ध कर दिया जाय, तब तक उसे अवश्य सत्य मानना चाहिये। यदि हम इन तीन सिद्धान्तों पर ध्यान दें, तो श्रीमध्व के जगत्-तत्त्व के सत्यत्व के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ सकते हैं।

श्रीमध्व के तीसरे सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, वह तब तक सत्य माना जायगा, जब तक हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान दूषित न ठहरा दिया जाय। जैसे हम किसी वृक्ष या नदी का अपने चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं। हम देखते हैं कि हमारी आँखों के सामने एक विशाल वृक्ष खड़ा है तथा अपनी सुशीतल छाया और फल से हमें सुख प्रदान कर रहा है। ऐसी दशा में हम उसे मिथ्या कैसे स्वीकार कर लें? उसे मिथ्या स्वीकार करना अपनी बुद्धि को तिला-

---

१ जगत्प्रवाहः सत्योऽयं नैव मिथ्या कथञ्चन।
ये त्वेदन्यथा ब्रूयुः सर्वहन्तार एव ते॥
२ छान्दोग्य-भाष्य। (भागवत-तात्पर्य)

अलि देना होगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात वस्तु को हम मिथ्या नहीं मान सकते। चूँकि हम जगत् के विभिन्न पदार्थों का अवलोकन या ज्ञान अपनी इन्द्रियों के द्वारा करते हैं, अतः यह प्रपञ्चात्मक जगत् मिथ्या नहीं, प्रत्युत सत्य है।

श्रीमध्व का पहला सिद्धान्त अतीन्द्रिय प्रश्नों के विषय में वेद को ही प्रमाण मानना है। जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, यह मिथ्या है या सत्य— इन प्रश्नों का उत्तर इन्द्रियों के द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह अतीन्द्रिय विषय है। अतः हमें अब यह देखना है कि जगत् के विषय में वेदों की क्या सम्मति है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्म के द्वारा ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'। चूँकि मध्व-मतानुसार ब्रह्म सत्य है, अतः उससे उत्पन्न वस्तु भी सत्य ही है। ब्रह्म जगत् को सृष्टि के आदि में उत्पन्न करता है और प्रलय के समय उसका संकोच करता है। वह अपनी लीला के रूप में इस जगत् को उत्पन्न करता है। इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जगत् सत्य है।

श्रीमध्वाचार्य के मतानुसार ब्रह्म तथा जीव में नितान्त भेद है। आपने स्पष्ट ही कहा है कि इन दोनों मे 'तत्त्वतो भेदः' अर्थात् वास्तव में भेद है। यह भेद पाँच प्रकार का होता है (१) ब्रह्म तथा जीव में भेद, (२) ब्रह्म तथा जगत् में भेद, (३) जीव और जगत् में भेद, (४) जीवों में परस्पर भेद और (५) जगत् का वस्तुओं और परमाणुओं में भेद—ये भेद वास्तव में होते हुए भी अनेक कारणों से दिखायी नहीं पड़ते। इन पाँचों भेदों में ब्रह्म तथा जीव का भेद ही प्रधान है, अतः इसीका विस्तृत वर्णन आगे प्रस्तुत किया जाता है।

श्रीमध्व समानता तथा एकता के अन्तर पर बहुत जोर देते हैं। आपका मत है कि दो वस्तुओं में समानता होने पर भी उन दोनों की एकता नहीं मानी जा सकती। बालू के दो विभिन्न कणों में समानता

होने पर भी दोनों को एक कहना भूल है; क्योंकि दोनों के गुणों में अन्तर है। इसी प्रकार ब्रह्म तथा जीव में और जगत् के अन्य पदार्थों में अनेक अंशों में समानता होने पर भी उनमें एकता स्थापित करना अनुचित है।

श्रुति हमें यह बतलाती है कि ब्रह्म से जीवों की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार वह्नि से स्फुलिङ्गों की। यह जगत् ब्रह्म से उसी तरह पैदा होता है, जिस तरह मकड़ी से जाला; परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि क्या स्फुलिङ्ग तथा जाले की सत्ता वह्नि तथा मकड़ी से पृथक् है? श्रीमध्वाचार्य इसका उत्तर स्वीकारात्मक देते है। आप कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बुनकर उससे पृथक् हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म जीव तथा जगत् को अपने ही अंशों से उत्पन्न कर उनसे पृथक् हो जाता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् ब्रह्म के अंश स्वरूप होने पर भी उस अंशी से सर्वथा पृथक् हैं। यदि अंश और अंशी के पार्थक्य को न स्वीकार कर हम दोनों की एकता मानने लगेंगे, तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। बाल मनुष्य के सिर से पैदा होता है। यदि हम बाल और सिर में एकता मानने लगें तो बाल कटाते समय सिर को भी कटाना पड़ेगा। परन्तु कोई ऐसा नहीं करता। अतएव अंश और अंशी में एकता कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। चूँकि ब्रह्म अंशी है और जीव अंश, अतः दोनों एक नहीं है—दोनों में वास्तविक अन्तर है।

अद्वैतवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि 'ब्रह्म ही सत्य है और यह समस्त जगत् मिथ्या है। जीव भी ब्रह्म ही है, अन्य नहीं'[1]। यह ब्रह्म अविद्या से युक्त रहता है। यह अविद्या

---

१. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

(शङ्कराचार्य)

अनिर्वचनीय है ; न तो यह सत् है और न असत्, किन्तु दोनों से विलक्षण है। जीव, जो वास्तव में ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म से अपने को उपाधि के कारण पृथक् समझता है। यह उपाधि अविद्या से ही उत्पन्न होती है। इसी उपाधि से अभिभूत होकर सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म असत्, अचित् तथा दुःख स्वरूप दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार दर्पण पर मैल जम जाने से उसमें मनुष्य का प्रतिबिम्ब ठीक नहीं पड़ता—उसकी आकृति छोटी, बड़ी या भद्दी दिखायी देती है, उसी प्रकार उपाधि-रूप मैल के कारण हम दर्पण रूप ब्रह्म में जीवरूप प्रतिबिम्ब को नहीं देख पाते। इस प्रकार अद्वैतवादियों के सिद्धान्त का सारांश यह है कि ब्रह्म और जीव वास्तव में एक हैं ; परन्तु अविद्या के द्वारा पृथक् प्रतिभासित होते हैं[1]।

श्रीमध्वाचार्य ने बड़ी प्रबल युक्तियों के द्वारा शङ्कराचार्य के इस उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है और यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म और जीव में वास्तविक भेद है। श्रीमध्व का कथन है कि अद्वैतवादियों का ब्रह्म, जो सत् और चित् से युक्त है, अविद्या से प्रभावित कैसे हो सकता है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार का एकत्र रहना असम्भव है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का अविद्या से प्रभावित होना भी असंगत है ; अतः अविद्या के द्वारा जगत् में भेद की उत्पत्ति कहना नितान्त भ्रम-पूर्ण है। श्रीमध्व कहते हैं कि यदि यह अविद्या सत्य है तो अद्वैत का सिद्धान्त पूर्णतया खण्डित हो जाता है और यदि यह असत्य है तो इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। अत एव इन युक्तियों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अद्वैत-वादियों का मायावाद सिद्धान्त गलत है तथा इसके द्वारा ब्रह्म और जीव में जो अभेद की स्थापना की गयी है, वह भी तर्क-युक्त नहीं है।

---

१ शारीरक-भाष्य।

अद्वैतवादी 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि'—इन श्रुति-वाक्यों के आधार पर यह कहते हैं कि ब्रह्म और जीव एक ही है; परन्तु मध्वाचार्य जी ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि इन वाक्यों का जो अर्थ अद्वैतवादी करते हैं, उससे इनका अर्थ वस्तुतः भिन्न है। यदि हम अद्वैतवादियों के अर्थ को स्वीकार करते हैं तो निम्नाङ्कित श्रुति वाक्य से विरोध पड़ता है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।'

—इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म तथा जीव में भेद है। इस प्रकार अद्वैतवादियों के समस्त सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए मध्वाचार्य ने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि ब्रह्म और जीव नितान्त भिन्न हैं।

ऊपर यह दिखलाया गया कि ब्रह्म और जीव में भेद है; परन्तु यह भेद होते हुए भी जीव ब्रह्म के ऊपर अवलम्बित है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ब्रह्म और जीव में अंशी और अंश का सम्बन्ध है। अतः जिस प्रकार अंश अंशी के ऊपर अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म के ऊपर अवलम्बित है। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। वह ब्रह्म का अंश भी कहा जाता है। इस लिये ब्रह्म की तरह जीव में भी सत्, चित् और आनन्द का निवास है। जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकती और न यह कोई स्वतन्त्र कार्य ही कर सकता है। यह सदा ब्रह्म की अधीनता में रहता है। जीव में जो कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता दिखायी पड़ती है, वह ब्रह्म की दी हुई है। एक ब्रह्म ही स्वतन्त्र है, जीव सारे परतन्त्र हैं। यद्यपि जीव नित्य है, फिर भी उसकी परतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह नित्यता उसे ब्रह्म से ही मिली है। ब्रह्म की इच्छा ही जीवों को नित्यता प्रदान करती है। इस प्रकार जीव ब्रह्म पर सर्वथा अवलम्बित दिखायी पड़ता है।

श्रीमध्वाचार्य का यह मत है कि जीवों में परस्पर भेद है तथा उनमें तारतम्य—ऊँच, नीच का विभाग भी है। जीवों का यह भेद सांसारिक दशा में ही नहीं होता, बल्कि मोक्षावस्था में भी रहता है। ये सब जीव प्रकृति के द्वारा प्रभावित होने के कारण 'संसार' कहलाते हैं। जब तक ये मुक्ति को प्राप्त नहीं हो जाते, तब तक प्रकृति के बन्धन में पड़े रहते हैं। जीवों में सर्व-श्रेष्ठ जीव देवता माने जाते हैं। इन देवों के भी अनेक भेद हैं। देवों के सर्व-श्रेष्ठ विभाग को सज्जुस् कहते हैं। ये अन्त में ब्रह्म बन जाते हैं। नीच जीवों में दैत्य, राक्षस और पिशाचों की गणना है। मध्यम कोटि में मनुष्य आते हैं, जो न बहुत बुरे और न भले हैं। इस प्रकार जीवों में भी भेद है।

जिस प्रकार शङ्कराचार्य ब्रह्म को सर्व-श्रेष्ठ तथा सच्चिदानन्द-स्वरूप मानते हैं, उसी प्रकार श्रीमध्वाचार्य जी हरि अथवा नारायण को सर्व व्यापी, सच्चिदानन्द-स्वरूप तथा सर्व-श्रेष्ठ वस्तु स्वीकार करते हैं। 'विष्णु-तत्त्व-निर्णय' के प्रारम्भ में आपने एक श्लोक लिखा है, जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

सदागमैकविज्ञेयं समतीतं क्षराक्षरम्।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम्॥

इस श्लोक से यह भी पता चलता है कि श्रीमध्व की नारायण के सम्बन्ध में क्या धारणा थी। यह नारायण केवल वेदों के द्वारा ज्ञेय हैं, क्षर-अक्षर दोनों से अतीत हैं, दोषों से रहित है तथा सम्पूर्ण सद्-गुणों से युक्त हैं। इसी नारायण को कभी-कभी आपने हरि के नाम से भी स्मरण किया है। हरिवंश के निम्नाङ्कित श्लोक को श्रीमध्वाचार्य-जी ने अनेक स्थानों पर उद्धरण रूप में दिया है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

श्रीमध्व के मतानुसार हरि परम ब्रह्म है, इससे बड़ी जगत् में कोई

वस्तु नहीं है। यह स्वतन्त्र है तथा इसके समान जगत् में कोई दूसरा नहीं है ('एकमेवाद्वितीयम्')। हरि एक होते हुए भी अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र तथा अदिति आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। वेद कहते हैं कि 'वह एक ही है, परन्तु पण्डित लोग उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं[1]।' वह अकेला ही अनेक देवताओं के नाम को धारण करता है। 'यो देवानां नामधा एक एव'। यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि मध्वाचार्य जी ने 'हरि' या 'नारायण' शब्द का प्रयोग किसी देवता विशेष के लिये नहीं किया है, प्रत्युत सर्व-व्यापक सर्वोपरि शक्ति के लिये ही किया है। अद्वैत-वेदान्तियों के लिये जो ब्रह्म है, वही इनके लिये हरि है।

श्रीमध्वाचार्य के मतानुसार हरि सत्, चित् तथा आनन्द-स्वरूप है। एकमात्र हरि ही स्वतन्त्र रूप से स्थिर है। शाश्वतिक पदार्थों में सब से शाश्वत वही है[2]। वह दूसरों को अपनी अनुकम्पा से नित्यता प्रदान करता है, अतः वह सत् है। वह चित् है, क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं को जानता है तथा चेतना-सम्पन्न है। हरि आनन्द-स्वरूप है; क्योंकि वह आनन्द की राशि है तथा दूसरों को भी आनन्द प्रदान करता है[3]। वह दिक् तथा काल से अनवच्छिन्न है। वह अनन्त गुणों का सागर है। उसकी दया, शक्ति, प्रेम तथा महिमा अपार हैं। हरि केवल अंशतः जाना जा सकता है। सम्पूर्णतया वह स्वयं ही अपने को जान सकता है। दूसरे लोग उसे जानने में समग्र रूप से असमर्थ हैं। अतः इस दृष्टि से वह अज्ञेय भी है।

---

१. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं मित्रं मातरिश्वानमाहुः॥

२. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

३. रसो वै सः।

हरि ज्ञान रूप भी कहा गया है, क्योंकि ज्ञान ही उसका परम तत्त्व है। उसका ज्ञान चिरस्थायी है। अनन्त होने के कारण न तो वह ज्ञान कभी घटता है और न बढ़ता ही है। हरि तथा उसके ज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं है। उसके कार्यों में भी कुछ अन्तर नहीं है[1]। हरि एक रहस्य के समान है। उसके पास अत्यधिक शक्ति है ('अचिन्त्यभूतशक्तिः')। वह छोटी-से-छोटी वस्तु से भी छोटा है ('अणोरणीयान्') तथा बड़ी-से-बड़ी वस्तु से भी बड़ा है ('महतो महीयान्') वह बैठा हुआ भी दूर तक चला जाता है ('आसीनो दूरं व्रजति') तथा सोता हुआ भी चारों ओर घूमता-फिरता है ('शयानो याति सर्वतः')। बिना आँख के भी वह देखता है और बिना हाथों के भी ग्रहण करता है। वह दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक है। श्रुति कहती है—

'दुराद् दूरतरं यत्तु तदेवान्तिकमन्तिकात्।'

शङ्कराचार्य ब्रह्म के दो रूप मानते हैं—निर्गुण तथा सगुण। उनके मत से सगुण ब्रह्म ही व्यक्तिगत ईश्वर है, जो संसार का कर्ता, पालयिता और संहर्ता है। यही ईश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। निर्गुण ब्रह्म उपाधिरहित अज्ञेय तत्त्व है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म को 'केवलो निर्गुणश्च' कहा गया है। श्रीमध्व भी सगुण ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर अन्य रूपों की भाँति मनुष्य रूप भी धारण करता है। उस समय उसके शरीर के विभिन्न अङ्गों में भेद नहीं रहता। सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप होने के कारण उसका प्रत्येक अङ्ग समस्त कार्यों का सम्पादन कर सकता है। ईश्वर में स्वगतभेद नहीं है। वह सिर के बालों से पैर के नखों तक पूर्ण, चित्स्वरूप, सुखमय तथा शान्ति से युक्त है। यह ईश्वर साकार रूप में सृष्टि का निर्माता,

---

१. अभेदो हरिरूपाणां गुणानां च क्रियासु च॥

पालनकर्ता तथा नाश करने वाला है। इसी सगुण ईश्वर की भक्ति करके जीव मुक्ति को प्राप्त करता है।

शङ्कर की भाँति श्रीमध्वाचार्य भी निराकार ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जो त्रिगुणातीत अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से अलिप्त है। वह स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी है। वह सब से पृथक् है, क्योंकि वह अद्वितीय है। वह अभेद्य है, नित्य है, अनन्त ज्ञान की राशि है। वह दोषों से रहित है। अनेक नामों से पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। वह कर्मबन्धन से परे है। संक्षेप में यह निराकार ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् तथा त्रिगुणातीत है[1]।

आचार-मीमांसा

हमारे शास्त्रों ने मनुष्य-जीवन के चार उद्देश्य बतलाये हैं, जिनको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन उद्देश्यों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं—जो अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष या मुक्ति अन्तिम तथा मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ समझा जाता है। मुक्ति की चर्चा भारतीय समस्त दर्शनों में पायी जाती है। बौद्ध लोग इसी मुक्ति को निर्वाण के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है—कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा जाना। श्रीमध्वाचार्य के अनुसार मुक्ति का अर्थ है—आत्मा का अभिव्यञ्जन, विकास तथा उसकी स्वानुभूति। जब तक स्वानुभूति नहीं होती, तब तक मुक्ति की प्राप्ति कठिन ही समझनी चाहिये। शङ्कराचार्य तथा मध्वाचार्य दोनों ही स्वानुभूति को मुक्ति का मार्ग समझते है; परन्तु इस अनुभूति का

---

१. माध्वमत के सिद्धान्तों के लिये देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित 'भारतीय दर्शन', पृ० ४९६–५०४।

जो परिणाम होता है, उसके विषय में दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शंकर तथा श्रीमध्व की मोक्ष-विषयक धारणा में अत्यधिक अन्तर है। श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार मुक्ति को प्राप्त कर लेने पर मुक्त जीव अपने को ब्रह्म समझता हुआ निर्गुण, निराकार तथा अनिर्वचनीय जानने लगता है अर्थात् ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। परन्तु श्रीमध्वाचार्य के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्नता को नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत अपनी भिन्नता तथा पृथक्ता को और भी स्पष्ट रीति से अनुभव करने लगता है। वह मुक्त तथा अमुक्त आत्माओं से भी अपनी पृथक्ता को समझने लगता है। इस प्रकार जहाँ शङ्कर के मत से विमुक्तात्मा ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करता है, वहाँ मध्व के अनुसार वह भिन्नता का अनुभव करता है।

समस्त भारतीय दर्शन इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि मुक्ति शाश्वतिकी होती है। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य एक बार मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह सदा के लिये आवागमन के बन्धन से छूट जाता है, उसका पुनः इस संसार में जन्म नहीं होता। छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट ही कहा है कि मुक्तात्मा लौट कर फिर नहीं आता—

'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ।'

ब्रह्मसूत्र के अन्तिम सूत्र में भी यही कहा गया है। यही मुक्ति की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है।

मुक्ति की दूसरी विशेषता है—दुःख, अशान्ति, अविवेक, राग, द्वेष, लोभ तथा तृष्णा आदि का सर्वथा विनाश हो जाना। मुक्तात्मा न किसी कष्ट का अनुभव करता है और न किसी बुरी भावना का। मुक्ति प्राप्त कर लेने पर आत्मा आनन्द, शान्ति तथा सन्तोष के सागर में गोते लगाने लगता है। श्रीमध्व का मत है कि वैकुण्ठ या स्वर्ग एक आध्या-

त्मिक जगत् है, जो प्रकृति से अलिप्त है। विमुक्त आत्मा अपने आध्यात्मिक अङ्गों के द्वारा सारे कार्यों का निष्पादन करता है। वह भौतिक शरीर के द्वारा इन कार्यों को नहीं करता। 'न्याय-विवरण' में यही बात इस प्रकार लिखी मिलती है—

'विमुक्तस्य चिन्मात्र एव देहो भवति, चिन्मात्राणि करणानि'

इस प्रकार विमुक्तात्मा सब प्रकार के सुखों का अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उपभोग करते हुए भी ईश्वर के प्रेम या भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ सुख स्वीकार करते हैं—

हरेरुपासया चात्र सदैव सुखरूपिणी।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः॥

श्रीमध्वाचार्य ने आत्माओं की तीन श्रेणियाँ मानी हैं। प्रथम तो वे हैं, जो नित्य सुख के अधिकारी हैं; द्वितीय वे हैं, जो शाश्वतिक दुःख के भागी हैं तथा तीसरे वे हैं जो संसार के लिये उपयुक्त हैं। प्रथम प्रकार के आत्माओं में चित् और आनन्द पाया जाता है; द्वितीय श्रेणी में चित् और दुःख है तथा तीसरी श्रेणी के आत्माओं में चित्, कुछ सुख तथा कुछ दुःख वर्तमान रहता है। इन तीनों प्रकार के आत्माओं को मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब आत्मा के सत्य स्वरूप को ढकने वाला आवरण नष्ट हो जायगा। श्रीमध्व का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी एक श्रेणी का आत्मा ही शाश्वतिक रूप से स्वर्ग को प्राप्त करेगा तथा दूसरा आत्मा सदा नरक भोगेगा; क्योंकि इस प्रकार का विचार मनुष्यता की कल्पना के बिलकुल विपरीत है।

श्रीमध्वाचार्य के अनुसार मुक्ति केवल किसी विशेष जाति या आश्रम तक ही सीमित नहीं है। किसी विशेष जाति में उत्पन्न हुआ मनुष्य अथवा किसी विशेष आश्रम (जीवन की अवस्था) में वर्तमान पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी है—यह कथन नितान्त अनुचित है। यह मुक्ति चारों वर्णों के मनुष्यों को, चारों आश्रमों में वर्तमान जीवों को—

यहीं तक नहीं, वल्कि जातिबहिष्कृत व्यक्तियों, अछूतों तथा निम्नतम श्रेणी के पुरुषों को भी प्राप्त हो सकती है। छान्दोग्य-भाष्य में स्पष्ट लिखा है—

सर्ववर्णाश्रमाणां च ज्ञानान्मोक्षो विनिश्चितः।
अन्त्यानां स्थावराणां वा तथापि यतिरुत्तम॥

शङ्कर के अद्वैतवाद में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के सिद्धान्तानुसार स्त्री तथा शूद्रों को अज्ञान में लिप्त रहने के कारण मोक्ष का अधिकार नहीं है। परन्तु श्रीमध्वाचार्यजी ने मुक्ति का साधन भक्ति को बतला कर स्त्री तथा शूद्रों के लिये भी मुक्ति का मार्ग खोल दिया। इस प्रकार श्रीमध्व की मुक्तिविषयक धारणा बड़ी व्यापक तथा गम्भीर है। यही इसकी विशेषता है।

श्रीमध्वाचार्यजी ने सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए भक्ति को उसका साधन बतलाया है—'भक्तिश्च तत्साधनम्।' बिना भक्ति के मुक्ति की प्राप्ति असम्भव है। अतएव समस्त जीवों को भगवान् की भक्ति के द्वारा ही अपनी मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिये। शङ्कराचार्य ने ज्ञान को मुक्ति का साधन बतलाया है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' परन्तु श्रीमध्व का मत है कि ज्ञान के साथ-साथ भक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। भक्ति और कर्म से विरहित ज्ञान के द्वारा मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती। वास्तव में सर्वोत्तम भक्ति साधन रूप ही नहीं, अपितु साध्य रूप हो जाती है—

साधनानि तु सर्वाणि भक्तिज्ञानप्रवृद्धये।
नैवान्यसाधनं भक्तिः फलरूपा हि सा यतः॥

(बृहदारण्यक-भाष्य)

श्रीमध्व का यहाँ तक कहना है कि भक्ति और कर्म मुक्ति के लिये केवल आवश्यक ही नहीं हैं, प्रत्युत विमुक्त आत्मा भी भगवान् की भक्ति तथा निष्काम कर्म सदा करता रहता है। मुक्त होने पर भी

उसकी भक्ति में कोई कमी नहीं आती। सारांश यह है कि जहाँ शङ्कराचार्य ज्ञान को मुक्ति का अनन्य साधन बतलाते हैं, वहाँ मध्वाचार्यजी भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन सिद्ध करते हैं।

अब हमें यह देखना है कि भक्ति का अर्थ क्या है। 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में श्रीमध्वाचार्य लिखते हैं कि भगवान् की निश्चल महत्ता के ज्ञान से उत्पन्न प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भगवान का यह प्रेम सांसारिक वस्तुओं के प्रेम को अतिक्रमण कर जाता है[1]। इसी भक्ति के द्वारा मुक्ति मिल सकती है, अन्य किसी उपाय के द्वारा नहीं[2]।

यदि ईश्वर की इच्छा से ही बन्धन और मुक्ति की प्राप्ति होती है तो हमें ईश्वरेच्छा को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वरेच्छा को जानने के पहले हमें ईश्वर को जानना होगा और ईश्वर को सत्यरूप से जानने के लिये हमें उससे प्रेम करना पड़ेगा; क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान तथा उससे प्रेम अन्योन्याश्रय हैं। ईश्वर के विषय में हम जितना ही अधिक जानेंगे, उतना ही अधिक उससे प्रेम करेंगे। कार्लायल का मत ठीक है कि किसी वस्तु को जानने के पहले उससे प्रेम तथा सहानुभूति प्रकट करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ईश्वर को जानना चाहते हैं तो हमें उसकी भक्ति करनी होगी।

भक्ति का प्रथम सोपान वैराग्य है। यदि हम ईश्वर की सच्ची भक्ति करना चाहते हैं तो हमें सांसारिक सुख तथा वैभव से मुख मोड़ना पड़ेगा। अपने सगे सम्बन्धियों तथा अपने आत्मा के भी मोह को छोड़ ईश्वर से नेह जोड़ना पड़ेगा। सांसारिक वैभवों में फँसे रहनेवाले मनुष्य को भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। कठोपनिषद् में भी लिखा है—

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढस्सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः।

२ तया मुक्तिर्न चान्यथा।

'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।'

मुक्ति की साधनरूपा भक्ति ईश्वर की महत्ता के ज्ञान पर अवलम्बित होनी चाहिये। यह अविराम तथा निश्चल होनी चाहिये, इसलिये भगवान् की स्तुति में 'निश्चला भक्तिरस्तु' की प्रार्थना की जाती है। भगवान् की भक्ति अन्य सांसारिक पदार्थों तथा अपने आत्मा के प्रति प्रेम से कोटिगुनी अधिक होनी चाहिये। हमें केवल सुख में ही ईश्वर का स्मरण नहीं करना चाहिये; बल्कि महान्-से-महान् आपत्तियों से घिरे रहने पर भी उसकी भक्ति में चित्त लगाना चाहिये। भवभूति के शब्दों में यह 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' होनी चाहिये। ऐसी ही भक्ति मुक्ति को प्राप्त करा सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है कि 'अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ।'

समीक्षा

द्वैतवाद के साहित्य तथा सिद्धान्त का परिचय पाठकों को देकर अब हम समीक्षा की ओर आते हैं। शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त के फलस्वरूप साधारण जनता में जीवन की उपेक्षा होने लगी थी। लोगों ने 'जगन्मिथ्या' के वास्तविक अर्थ को न समझकर भ्रम से इस संसार को वास्तव में असत्य मान लिया। इसका दूषित परिणाम यह हुआ कि जनता में निराशावाद का प्रचार होने लगा तथा जीवन के कर्मक्षेत्र से हटकर वे ऊपरी वैराग्य से ही मुक्ति की आशा करने लगे। इसके फलस्वरूप लोगों में अकर्मण्यता फैलने लगी। ऐसे समय में श्रीमध्वाचार्य ने अपने द्वैतमत का प्रचार करके भारतीय जनता का बड़ा ही उपकार किया। आपने यह उपदेश दिया कि जगत् मिथ्या नहीं है बल्कि यह भी सत्य है। संसार में रहते हुए कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है। जिस संसार में हम रहते हैं, दुःख-सुख का अनुभव करते हैं,

वह झूठा कैसे हो सकता है। यह ऐसा उपदेश था, जो तर्कयुक्त होने के करण साधारण मनुष्य की भी समझ में आ सकता था। इस प्रकार जनता में निराशा तथा अकर्मण्यता के स्थान पर आशा तथा कर्म की प्रवृत्ति का सञ्चार हुआ। इसके लिये हमें मध्वाचार्यजी का अत्यन्त ऋणी होना चाहिये।

श्रीमध्वाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त न तो चार्वाक-मत की तरह जड़वादी या भाग्यवादी है और न शंकर के अद्वैतवाद की तरह आदर्शवादी। द्वैतवाद में उपर्युक्त दोनों मतों का सामञ्जस्य पाया जाता है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। ब्रह्म तथा जगत् दोनों की सत्ता को स्वीकार कर एक ओर तो यह अध्यात्मवाद की ओर झुका है और दूसरी ओर व्यवहारवाद की ओर। साधारण जनता के बुद्धिगम्य तथा तर्कगम्य होने के कारण इसे 'कामनसेन्स फिलासफी'[१] कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

इस मत की दूसरी विशेषता यह है कि भक्ति को मुक्ति का साधन बतलाकर श्रीमध्व ने चारों वर्णों के लिये मोक्ष का द्वार खोल दिया। इस प्रकार स्त्रियों तथा शूद्रों को भी आपने मोक्ष का अधिकारी बतलाया है। संक्षेप में भारतीय समाज तथा भारतीय दर्शन को ये आपकी दो प्रधान देने हैं।

---

१ 'Commonsense Philosophy'

शुद्धाद्वैत मत

(५) पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त और उनका उद्गमस्थान

श्रीवल्लभाचार्य ने सिद्धान्तरूप से शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है। भक्तिसम्प्रदाय में उनके मत को 'पुष्टिमार्ग' के नाम से पुकारते हैं। महाप्रभु जीव तथा ब्रह्म की नितान्त एकता के पक्षपाती हैं। अतः अद्वैत के वे पक्के माननेवाले हैं। परन्तु माया-शबल ब्रह्म के माननेवाले शांकर वेदान्त से अपने मत की भिन्नता प्रतिपादन करने के विचार से उन्होंने अद्वैतके पूर्व 'शुद्ध' शब्द का व्यवहार किया है तथा अपने सिद्धान्त को 'शुद्धाद्वैत' के नाम से व्यवहृत किया है। शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में इस नामकरण का यही कारण बतलाया गया है।

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

(चौखंभा सं०, प० २८, पृ० २४)

यह परब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। भगवान् अखिल-रसामृतमूर्ति, अखिल लीलानिकेतन श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म है[1]। अग्नि से स्फुलिंगों के समान उस परब्रह्म से जीवों का आविर्भाव होता है[2]। जगत् भगवान् की लीला का विकास है। आविर्भाव तथा तिरोभाव नामक भगवत्-शक्तियों के कारण इस जगत् का विकास तथा लय होता है[3]। इत्यादि।

---

१ देखिये—'प्रमेयरत्नार्णव' पृ० ११—१५

२ देखिये—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ७

३ „ „ „ पृ० ८—१३

पुष्टिमार्ग—आवश्यकता तथा विशिष्टता

यह संसार विपत्तियों का आगार है। चारों ओर से विपत्तियाँ आकर हमें थपेड़ा मार रही हैं। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही हमारे लिये दुःख का सागर उमड़ रहा है। अतः सब आचार्यों के सामने सब समय यही विकट प्रश्न उपस्थित होता आया है कि इस जगत् के त्रिविध दुःखों से सदा के लिये (आत्यन्तिकी) निवृत्ति किस प्रकार होगी। कौन ऐसा सुगम उपाय है जो मानव जीवों को इन बन्धनों से छुडाकर आनन्द के मार्ग पर लगा देगा। प्राचीन आचार्यों ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के मार्ग मुमुक्षुजनों के लिये इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। वल्लभाचार्य इन मार्गों की उपयोगिता को मानते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में इन साधनों का ठीक-ठीक आचरण इस कलिकाल में नहीं हो सकता। महाप्रभु ने अपने कृष्णाश्रय-स्तोत्र में इस कुटिल काल का बड़ा ही सजीला वर्णन किया है[1]। समस्त देश म्लेच्छों के आक्रमणों से ध्वस्त हो गये हैं; गंगादि तीर्थों को पापियों ने घेर रक्खा है तथा उनके अधिष्ठातृदेवता अन्तर्धान हो गये हैं। ऐसे विपरीत समय में क्या ज्ञान की निष्ठा हो सकती है? यज्ञ-यागादिकों का यथोचित अनुष्ठान हो सकता है? अथवा भक्ति मार्ग का ही क्या आचरण भली-भाँति हो सकता है! नहीं, कभी नहीं। यदि हो भी

१—म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ २॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ ३॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ ४॥
(कृष्णाश्रयस्तोत्र)

सकता है, तो केवल वेदाध्ययननिरत त्रिवर्ण के पुरुषों को ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियों की मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गों के अनुसरण से कभी हो सकती है? इनके लिये तो कोई सीधा राजमार्ग होना चाहिये जिस पर चल कर वे लोग—निराश्रय तथा निःसहाय जन—इस संसार के समस्त बन्धनों से अनायास ही मुक्त हो जायँ। इन निराश्रयों का उद्धार सदा की भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभु ने इन्हीं लोगों के कल्याण के लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया। इस मार्ग में परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान्[1] का अनुग्रह ही एकमात्र साधन है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रय के निष्पादन में अपने को असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान् के चरणारविन्दों में समर्पण कर दें। यदि पूर्ण भक्ति के साथ हम श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अपने निराश्रय आत्मा को डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-पोषण न करेगा? क्या वह व्रजविहारी हमारे आर्त चित्त को अपनी मधुर वंशी की तान से आप्यायित न कर देगा? अवश्य करेगा, जरूर करेगा। परन्तु हम में चाहिये उसके अनुग्रह में पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपा पर नितान्त भरोसा।

वल्लभ ने पुष्टिमार्ग की मर्यादामार्ग से विशिष्टता स्पष्ट रूप से दिखलायी है। मर्यादामार्ग में जीव फल के लिये अपने कर्मों के अधीन है। जैसा वह कर्म करेगा, वैसा फल भगवान् उसे देंगे। 'कर्मानुरूप

१—भगवान् श्रीकृष्ण ही परमसत्तारूप है। देखिये—

(क) परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥ ३ ॥

(सिद्धान्तमुक्तावली)

(ख) कृष्णात्पर नास्ति दैव वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

(अन्तःकरणप्रबोध)

फलम्' मर्यादामार्ग का प्रसिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु पुष्टिमार्ग में कर्म की क्या आवश्यकता[1]? मर्यादामार्ग में शास्त्रविहित ज्ञानकर्म के आचरण से ही मुक्ति रूपी फल मिलता है परन्तु पुष्टिमार्ग में ज्ञानकर्म की नितान्त निरपेक्षता बनी रहती है[2]। इसी कारण से सब निराश्रय दीन जीवों का एकमात्र मोक्षसाधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग, जिसमें भगवान् अपने में कर्मणा मनसा वाचा आत्मसमर्पणशील जीवों का प्रपञ्च से उद्धार अपनी दया के बल से कर देते हैं[3]। अतः यह मार्ग सब जीवों के लिये—वर्ण, जाति, देश किसी भी देहभाव के बिना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है। यही इस मार्ग की विशेषता है। मर्यादामार्ग से इस मार्ग की यही विशिष्टता है[4]।

१—फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्षः। इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मणि न दोषगन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्रान्यथा स पुष्टिमध्य इति। (ब्र० सू० २। ३। ४२ पर अणुभाष्य)

२—अत एव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वम त्र युक्तमेवेति भावः।

(ब्र० सू० ३। ३। २६ पर अणुभाष्य)

३—पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः।

(ब्र० सू० ४। ४ ९ पर अ० भा०)

४—इस सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखिये श्रीहरिराय जी कृत पुष्टिमार्गीय कारिकाएँ—प्रमेयरत्नार्णव पृ० १८।२४ नमूने के तौर पर एक कारिका नीचे दी जाती है—

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

ब्रह्मसम्बन्ध का अनुष्ठान

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, परन्तु अब इस सिद्धान्त को व्यवहार में किस प्रकार लाने की व्यवस्था आचार्यचरणों ने बतलायी है उसका विचार करना भी समुचित है। इसे व्यावहारिक रूप जिस विधि के द्वारा दिया जाता है उसका नाम इस सम्प्रदाय में है ब्रह्म-सम्बन्ध[1]। इस अनुष्ठान का विधान वल्लभाचार्य जी को स्वयं भगवान् ने बतलाया था, इसका उल्लेख हमें उनके सिद्धान्तरहस्य नामक स्तोत्र में (पहले श्लोक में) किया मिलता है। इस अनुष्ठान के द्वारा गुरु प्रत्येक शिष्य का भगवान् के साथ सम्बन्ध करा देता है। मुमुक्षु शिष्य को ज्ञाननिरत तथा भागवत तत्त्वज्ञ गुरु की खोज करनी चाहिये। अनु-रूप गुरु की प्राप्ति हो जाने पर उसे अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये। तब गुरु उसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारे शरण हैं इस अर्थ वाला 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्र बतलाते हैं। इसे शरणमन्त्र के नाम से पुकारते हैं। वल्लभाचार्यजी ने नवरत्न में स्वयं इस मन्त्र के विषय में कहा है—

> तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
> वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥ ९॥

इसके अनन्तर वह गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, तुलसी की माला देता है तथा दीक्षा मन्त्र का उपदेश करता है तथा शिष्य से उच्चारण कराता है। यह मन्त्र नितरां गोप्य माना जाता है। इस मन्त्र को आत्मनिवेदनमन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भक्त अपनी समस्त वस्तुओं को, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तः-

---

१—ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि ……………………॥ २॥
(सि० र०)

करण को उनके धर्मों के साथ, अपनी आत्मा को भगवान् को निवेदन कर देता है। यह मन्त्र यों है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।

प्रसिद्धि है कि श्रीकृष्ण ने यह मन्त्र आचार्यजी को स्वयं बतलाया था। इस मन्त्रोपदेश के अनन्तर उस नवीन श्रद्धालु भक्त को गोपियों को अपना आदर्श मान कर अपना समर्पणनिरत जीवन बिताना चाहिये तथा भगवान् की पूजा-अर्चा ही में अपना कालयापन करना चाहिये, उसे अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं, स्वतन्त्रता नहीं। वह तो अब भगवान् का दास बन गया। जीवन भी भगवान् ही का है। उसके जितने कर्म हैं, चेष्टाएँ हैं, मन-वचन-कर्म के जितने विविध विधान हैं, वे सब श्रीकृष्ण को ही समर्पण किये जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वात्मना भगवान् का दास बन कर अपनी ऐहिक लीला की समाप्ति के अनन्तर भगवदनुग्रह से गोलोक की विपुल शान्ति में जा विराजता है।

पुष्टिमार्ग का उद्गम स्थान

पुष्टिमार्ग में संक्षेप में यही सिद्धान्त है तथा यही व्यवहारिक विधान है। आचार्य श्रीवल्लभ ने इस नवीन मत की उद्भावना कहाँ से की है? इसकी कुछ खोज करनी है। वल्लभाचार्य अपने मत को नवीन नहीं बतलाते, बल्कि अपने को विष्णु-स्वामी के प्राचीन सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाते हैं। फिर भी विष्णु स्वामी के लुप्त होते हुए सम्प्रदाय को जीवन प्रदान कर एक शक्तिशाली वैष्णव-सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित करना अत्यन्त असाधारण कार्य है। महाप्रभु जी ने यही कर दिखलाया। इसके लिये उन्हें प्रेरणा कहाँ से हुई? किस ग्रन्थ के सुचारु अध्ययन प्रभु जी के भावुक हृदय में इन सिद्धान्तों की रूप-रेखा को

खड़ा किया ? प्राचीन आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार के लिये सदा ही प्रस्थानत्रयी—वेद (उपनिषद्), ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता को मूल माना है। महाप्रभु ने भी वैसा ही किया है, परन्तु लेखक बहुत वर्षों के अध्ययन के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि आचार्य का यह समग्र सिद्धान्त-समुच्चय, पुष्टिमार्ग का यह समस्त अनुष्ठान, शुद्धाद्वैत का यह परिमार्जित सिद्धान्त—यह सब तत्त्व पुराणाग्रगण्य साक्षात् भगवद् रूप श्रीमद्भागवत की जाज्वल्यमान विभूति है। 'सुबोधिनी' हमारे कथन के लिये पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करती है कि वल्लभाचार्य भागवत के निगूढ़ तत्त्वों के सुबोध ज्ञाता थे। उन्होंने भागवत के अमृत फल को खूब ही अधिक अनुराग तथा विमल भक्तिभाव के साथ चखा था। निःसन्देह ही यह ग्रन्थ-रत्न निगमकल्पतरु का गलित फल है (निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्) वेद-वेदान्त का सार है[1], प्रस्थान त्रय के स्तरों में निहित गूढ़ अर्थों का सर्व-साधारण के सामने सीधी भाषा में प्रकट करने वाला व्याख्यान ग्रन्थ है; अतः इसके सिद्धान्तों को वैदिक सिद्धान्तों का सार मानने में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। तथापि हमें तो यह बात विवाद-शून्य प्रतीत होती है कि वल्लभाचार्य जी के ऊपर इसी पुराण-रत्न ने सब से अधिक अन्तरङ्गरूपेण अपना प्रभाव डाला जिसका फल हमें 'पुष्टि' की भक्तिमयी साधना पद पद पर दिखलायी देता है।

'पुष्टि' का अर्थ

'पुष्टि' शब्द ही को देखिये। बहुत-से देशी तथा विदेशी विद्वान् इस शब्द से अन्नपान के द्वारा शरीर की पुष्टि करनेवाले सम्प्रदाय की

१—सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
(भा० १२। १३। १५)

कल्पना करते हैं और उनके भ्रान्त विचार के अनुसार 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' की ही गूँज वल्लभाचार्य के पवित्र सिद्धान्तों में सुन पड़ती है ! परन्तु आचार्य ने ऐसे जीवन की बड़ी निन्दा की है[1]। इस कठिन शब्द के अज्ञान से ही समुज्जृम्भित ये सब अनर्गल कल्पनाएँ हैं। यह शब्द आचार्य को भागवत से प्राप्त हुआ। भागवत के द्वितीय स्कन्ध १० वें अध्याय के चतुर्थ श्लोक में पुष्टि या पोषण का अर्थ भगवान् का अनुग्रह बतलाया गया है—पोषणं तदनुग्रहः। इसी श्लोकांश के आधार पर वल्लभ ने अपने सिद्धान्त को 'पुष्टि' के नाम से पुकारा है। इस शब्द का यह उत्पत्तिस्थल ही स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर रहा है कि यह श्रीमद्भागवत की देन है। आचार्यजी ने इसे भागवत से प्राप्त किया।

पुष्टिमार्ग की प्राचीनता

श्रीभगवान् के अनुग्रह को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाने का सिद्धान्त आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकाल से चला आता है। यह उपनिषदों में यत्र तत्र सूत्ररूप से पाया जाता है। देखिये, मुण्डक उपनिषद् ने आत्मा की उपलब्धि का कारण बतलाते समय न तो प्रवचन को कारण माना है, न मेधा को और न बहुशास्त्रश्रवण को, प्रत्युत यही बतलाया है कि जिस पर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कठोपनिषद् में भी (१।२।२०) 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु-

---

१ विषमाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः।
(संन्यासनिर्णय ६)

प्रसादान्महिमानमात्मानः' कहकर भगवान् के प्रसाद से ही आत्मस्वरूप के दर्शन करने की बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रह का यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है, वैदिक है, परन्तु आचार्यचरण ने इसे ही मुक्ति की मूलभित्ति मानकर अपना जो पुष्टिमार्ग चलाया उसमें श्रीमद्भागवत ही प्रधान कारण प्रतीत होता है। भागवत में वैदिक सिद्धान्तों की ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुति में जो सूत्ररूप से है उसका भाष्य हमें भागवत में उपलब्ध होता है। भागवत में भगवदनुग्रह को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान् के सम्मुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकों को जलाकर उसे अपना लेते हैं तथा दुःखों से मुक्ति की व्यवस्था कर देते हैं। वह तो भक्तवत्सल ठहरे; भागवत का कहना है कि भगवान् कल्पतरु-से स्वभाववाले हैं—

चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥
(भाग० ८।२३।८)

जो कामी भक्त हैं, भगवान् से याचना करते हैं उन्हें तो उनका मुँह माँगा फल दे ही देते हैं, परन्तु अनिच्छुक अकामी भक्तों को भी स्वयं अपना चरण-कमल प्रदान कर देते हैं जिससे उनकी सब इच्छाएँ ही आप-से-आप समाप्त हो जाती हैं। अहा, भगवान् कैसे कृपालु हैं—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥
(भाग० ५।१९।२७)

आत्मनिवेदन की विशिष्टता

भक्ति के द्वारा ही भगवान् का अनुग्रह हमें प्राप्त हो सकता है। बिना भक्ति के ज्ञान, कर्म हस्तिस्नान की तरह बिल्कुल निष्फल हैं। प्रह्लादजी ने दान, व्रत, शौच आदि को व्यर्थ बतलाकर भगवान् की प्रीति सम्पादन करने के लिये निर्मला—निष्काम–भक्ति को ही एकमात्र साधन बतलाया है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
(भाग० ७।७।५२)

परन्तु भक्ति तो नवधा ठहरी। श्रवण, कीर्तन, वन्दनादि के द्वारा भक्ति की जाती है, परन्तु श्रवणादि भक्ति के बहिरङ्ग साधन के समान प्रतीत होते हैं। इनमें भक्त की भगवान् से पृथक् ही सत्ता बनी रहती है, तादात्म्य का पक्का रंग अभी तक चढ़ा हुआ नहीं देख पड़ता। 'एकात्मता' की ऊँची सीढ़ी अभी दूर ही दृष्टिगोचर होती है। इसके लिये अन्तिम भक्ति-प्रकार आत्मनिवेदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीता में इसका सूत्र मिलता है, भागवत में इसका भाष्य। भागवत ने आत्म-निवेदन से सद्यः अमृतत्वलाभ तथा कृष्णैकात्म्य की प्राप्ति बतलायी है। एकादश में भगवान् का स्वयं कहना है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(११।२९।३४)

जब तक भगवदर्पण नहीं किया जाय, वेदविहित त्रिवर्ग एकदम मिथ्या हैं, यह प्रह्लादजी का कथन (७।३।२६) बिल्कुल सत्य

है। अतः भक्ति के सब प्रकारों में आचार्यजी ने आत्मनिवेदन को जो अपना मन्त्र बनाया, वह भागवत के सर्वथा सम्मत ही है।

शरणागति

श्रीकृष्ण के शरण में बिना गये मनुष्य का कल्याण साधन नहीं हो सकता। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता बतलाती है। भागवत में भी इस विषय का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन हम पाते हैं। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर दूसरे की शरण में जाता है, वह मूर्ख कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन सम प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥
(भाग० ६।९।२२)

तापत्रय से सन्तप्त मनुष्य के लिये भगवान् का पादपद्म ही तो एकमात्र शरण है। उद्धवजी का कथन है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तावङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥
(११।१९।९)

ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार के क्लेश बाधा नहीं पहुँचाते (भाग० ३।२२।३५) तथा अपनी भ्रूकुटि से समस्त विश्व को ध्वंस करनेवाला यमराज भी ऐसे मनुष्य को अपने प्रभाव के बाहर समझता है (४।२४।५६)। ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि भगवान् के पादपद्म 'अभयं' सर्वतो भावशून्य हैं, 'ऋतं' अविनाशी हैं तथा 'अशोकं' नितरां शोकरहित हैं—

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥
(१०।५१।५९)

जब तक हम भगवान् के शरणापन्न नहीं हैं, तभी तक ही यह गृह कारागृह है, राग-द्वेष चोर हैं, मोह पादबन्धन है। शरणागति के अनन्तर तो भगवद्भक्ति के साधक होने से इनमे स्वार्थ के कीड़े मर जाते हैं; ये सब परार्थ होने से श्लाघनीय बन जाते हैं।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

अतः मुक्तिसाधन में शरणागति का बड़ा उपयोग है। महाप्रभुजी ने शरण मन्त्र को अपनाकर अपनी भागवत तत्त्वज्ञता का गहरा परिचय दिया है।

उपसंहार

अब तक के विवेचन से यह बात किसी भी आलोचक को स्पष्ट मालूम पड़ जायगी कि पुष्टिमार्ग का उपरिविवेचित रूप भागवत के आधार पर है। इसलिये इस मत के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के बाद 'व्यास की समाधि भाषा'—भागवत—को भी प्रमाण—चतुष्टय में ठीक ही गिनाया है[1]। सच तो यह है कि श्रीमद्भागवत की महिमा अमित है। सब वैष्णव-सम्प्रदायों पर भागवत की अमिट छाप लगी हुई है, विशेषकर वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय पर।

—※—

१ वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७९ ॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४९)

समन्वयवाद

(६) भारतीय दर्शनों का समन्वय

भारतीय तत्त्वज्ञान की विविध विचित्र धाराओं के अनुशीलन से इस चिन्ता धारा की मुख्य दिशा का परिचय भली-भाँति पाठकों को मिल सकता है। भारतीय विचार शास्त्र का मुख्य उद्देश्य इस क्लेशबहुल प्रपञ्च के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर परमानन्द की उपलब्धि है। अतः इसकी विशेषता 'साधना' में है और इसी साधना के निर्धारण करने के लिए तत्त्वमीमांसा का पर्याप्त उपयोग है। अब प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न दर्शनों में क्या पारस्परिक विरोध है? सत्य की खोज में लगने वाले इन दर्शनों में क्या विरोध होना उचित है, जब कि 'सत्य' का स्वरूप निश्चय रूप से एक ही प्रकार का है। यह समस्या बड़ी विषम है, परन्तु प्राचीन आचार्यों की दृष्टि इस समस्या की ओर स्वभावतः गयी थी और उन्होंने इसकी बड़ी सुन्दर मीमांसा की है।

सब से पहले यह बात ध्यान देने योग्य है कि शास्त्र का प्रयोजन लोक-सिद्ध अर्थ के व्युत्पादन में नहीं है। जो वस्तु आपामार प्रसिद्ध है, उसके सिद्ध करने के लिए शास्त्र युक्तियों का व्यूह निर्माण करेगा, इसकी क्या आवश्यकता है? लोक-व्यवहार के निरीक्षण से भेद—द्वैत—लोकसिद्ध प्रतीत होता है। लौकिक प्रवृत्ति का मूल इसी भेद पर आश्रित है। 'मैं, तुम'—'मेरा और तेरा' आदि भेद को लेकर ही तो जगत् के समस्त व्यापार चलते हैं। अतः लोकसिद्ध भेद का निराकरण कर अभेद का प्रतिपादन ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन प्रतीत होता है। शास्त्रों में लोकसिद्ध बातों का यदि विवरण उपलब्ध होता है, तो वह

अनुवाद-मात्र है, इसी लिए वाचस्पति मिश्र का कहना है—"भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते। अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति॥" अतः यदि अभेद का व्युत्पादन शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, तो भेद प्रतिपादक न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा आदि दर्शनों की गति क्या होगी? उनकी सङ्गति क्यों कर हो सकेगी? इसके उत्तर में शास्त्रज्ञों की सम्मति है—"अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः" अर्थात् अधिकारी के भेद से ही विभिन्न शास्त्रों का कथन किया गया है, अन्यथा शास्त्रकर्ता ऋषिजनों को भी भ्रान्त मानने की अनवस्था उपस्थित हो जाती है। प्रस्थान-भेद के अन्त में मधुसूदन सरस्वती ने प्रधानतया तीन ही प्रस्थान स्वीकृत किये हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद की दृष्टि न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा की है, परिणामवाद सांख्य-योग, भर्तृप्रपञ्च और वैष्णव दार्शनिकों को सम्मत है। विवर्तवाद बौद्धों में विज्ञानवादियों तथा शून्यवादियों को और ब्राह्मणों में अद्वैतवादियों को अभीष्ट है। भारतीय दर्शन-शास्त्र का प्रधान लक्ष्य अद्वैततत्त्व ही है, परन्तु अद्वैततत्त्व इतना सूक्ष्म तथा कुशल-बुद्धिगम्य है कि उसका ग्रहण एक ही बार सद्यः प्रतिपादन से हो नहीं सकता। स्थूल विषयग्राही मानवों के उपकारार्थ मुनियों ने न्यायादि शास्त्रों की रचना की है, जिससे मनुष्य स्थूल से होकर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रम-पूर्वक सुभीते के साथ कर सके। अतः भारतीय दर्शन तो एक ही है और वह है अद्वैत वेदान्त। अन्य दर्शन तो उस पर पहुँचने के लिए सोपानमात्र है। मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में ही उसका सिद्धान्त यों है—"न हि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात् तेषां, किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्य-निवारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः। सर्वेषां प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेन अद्वितीये परमेश्वर एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्।"

जगत् को परमाणुओं का कार्य बतलाने वाले आरम्भवाद की दृष्टि

नितान्त स्थूल है। कारण में कार्य की सत्ता मानने वाले परिणामवाद की दृष्टि उससे सूक्ष्म है, परन्तु विवर्तवाद इन तीनों में सूक्ष्मतम है। विवर्तवाद के अनुसार ब्रह्म ही एक परमार्थभूत तत्त्व है और यह दृश्यमात्र जगत् उसी का अतात्त्विक विकार है। न्यायदर्शन का मुख्य उद्देश्य कुतार्किकों के मतों के खण्डन करने के लिए युक्तिबहुल प्रमाणों की प्रकृष्ट मीमांसा करना है। इसी लिए एक प्राचीन न्यायाचार्य का कथन है—"इदं तु कण्टकावरणं, तत्त्वं तु बादरायणात्"। जिस प्रकार शस्य की रक्षा करने के लिए क्षेत्र के चारों ओर कण्टकमयी वृति लगा दी जाती है, उसी प्रकार अद्वैत-प्रतिपादक उपनिषद्-ज्ञान 'को तर्ककुशल बौद्धादि नास्तिकों के कुतर्कों से बचाने के लिए न्याय की वृति लगा दी गयी है, परन्तु वास्तव तत्त्व तो बादरायण से प्राप्त करना चाहिए अर्थात् अद्वैत तत्त्व ही वास्तविक है। दर्शनों के प्रयोजन के न जानने से ही उन पर आक्षेप करने का अवसर आता है। 'आत्मा' के विषय में दर्शनों के विवेचन में स्पष्टतः पार्थक्य दीख पड़ता है, परन्तु प्रयोजन की भिन्नता होने से उनमें वास्तव विरोध नहीं है। न्याय का प्रयोजन आत्मा को देह, प्राण और इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध करने में है। वह अवश्यमेव आत्मा को जड़ और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर ज्ञान-सुखादि गुणों का आश्रय मानता है, परन्तु यह गुणाश्रयिता लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद-मात्र है। इस अंश में विरोध होने पर भी न्याय का पूरा विवेचन अग्राह्य नहीं माना जा सकता। अतः शङ्कराचार्य ने पूर्व अंश का खण्डन न कर उत्तर अंश का ही प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है। इसी प्रकार सांख्य का उद्देश्य आत्मा को असङ्ग, निर्लेप, निर्गुण और चैतन्य रूप प्रतिपादन करने में है, पुरुष का बहुत्व तथा भोक्तृत्व लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद-मात्र है, प्रधान विषय नहीं। अतः विरुद्ध अंश के परित्याग करने पर अवशिष्ट अंश का ग्रहण नितान्त न्याय्य और सुसङ्गत है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर विज्ञानभिक्षु ने दर्शनों का समन्वय दिखलाया है—

"न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखि-दुःख्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेन आत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः। एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्।'

सांख्ययोग के आचार्य विज्ञानभिक्षु भारतीय दार्शनिक जगत् में अपनी समन्वय दृष्टि के लिए प्रसिद्ध है, क्योंकि उनके मत में विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों में आपाततः विरोध दीख पड़ने पर भी उनके भीतर परमार्थतः एकता विद्यमान है। इनसे बहुत पहले उदयनाचार्य ने भी इस विरोध का परिहार कर समन्वय की ओर अपनी दृष्टि डाली थी। 'आत्म-तत्त्व-विवेक' में उन्होंने अन्य दर्शनों को मोक्षनगरी का अपद्वार बतलाया है और वेदान्त को पुरद्वार स्वीकृत किया है और स्पष्टतः उपदेश दिया है कि अभ्यास-काम पुरुष अपद्वारों को छोड़ कर पुरद्वार से प्रवेश करे—"तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत्।" यह कथन वेदान्त की उत्कृष्टता बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है। इसी प्रकार 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' में उन्होंने इस समन्वय का निर्देश किया है—"इत्येषा सहकारशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।" इसका आशय यह है कि ईश्वर अदृष्ट की सहायता से जगत् की सृष्टि करता है, अतः अदृष्ट का ही नाम 'सहकार शक्ति' है। दुर्ज्ञेय होने से यही अदृष्ट 'माया', जगत् का मूल होने से 'प्रकृति' और तत्त्वज्ञान के उदय होने से नष्ट होने के कारण 'अविद्या' पदवाच्य है। अतः जगत् की सृष्टि के विषय में मूलतत्त्व एक ही है, केवल भिन्न-भिन्न नामों के ही प्रयोग से वह पृथक् प्रतीयमान है। नैयायिकों के मत में अदृष्ट, तान्त्रिकों की 'शक्ति', वेदान्तियों की 'माया' और 'अविद्या' तथा सांख्यों की 'प्रकृति' एक ही मूलतत्त्व की विभिन्न संज्ञामात्र है।

हमने पहले कहा है कि ये तीनों प्रस्थान सोपान की तरह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए मूल अद्वैततत्त्व की ओर अग्रसर होते हैं। थोड़ी व्याख्या के अनन्तर यह सिद्धान्त हृदयङ्गम होगा। जगत् के प्रत्येक

अनुभव-व्यापार में दो अंग होते हैं—अनुभवकर्ता और अनुभव-विषय या शङ्कराचार्य के शब्दों में 'अस्मत्प्रत्ययगोचर' और 'युष्मत्प्रत्ययगोचर'। एक होता है द्रष्टा और दूसरा होता है दृश्य। न्याय-वैशेषिकों की कल्पना के अनुसार यह द्रष्टा 'आत्मा' है और दृश्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये भूतपञ्चक हैं। द्रष्टा के द्वारा दृश्य की अनुभूति के लिए 'मन' की कल्पना है। ज्येष्ठ और कनिष्ठ के लोक-व्यवहार के लिए 'काल' और 'यहाँ', 'वहाँ' व्यवहार के लिए 'दिक्' स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य रूप में विभक्त जगत् के यथार्थ विश्लेषण के लिए न्याय-वैशेषिक को पञ्चभूत, काल, दिक्, मन और आत्मा—नौ पदार्थों की पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है। अतः प्रथम प्रस्थान की आध्यात्मिक दृष्टि 'बहुत्ववाद' की है। द्वितीय प्रस्थान में भी स्वतन्त्र पदार्थों को घटा कर दो ही मूल पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। द्रष्टा 'पुरुष' रूप में तथा समस्त दृश्य 'प्रकृति' रूप में अङ्गीकृत किये हैं। न्याय का 'आत्मा' सांख्ययोग में 'पुरुष' कहलाता है, परन्तु दोनों प्रस्थानों में यही भेद है कि आत्मा जड़ और चैतन्य, ज्ञान आदि गुणों का अधिष्ठानमात्र है, परन्तु 'पुरुष' चैतन्याश्रय न होकर स्वयं चित्स्वरूप है। मन को यहाँ 'अन्तःकरण' रूप में और चारों क्षित्यादि-परमाणुओं तथा आकाश को पञ्च 'तन्मात्रा' रूप में स्वीकृत किया गया है। दिक्-काल सांख्यमत में पृथक् पदार्थ नहीं माने जाते। व्यासभाष्य में 'काल' वस्तु शून्य, विकल्पमात्र सिद्ध किया गया है—"स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते" (व्यास-भाष्य ३।५२)। क्षणों के सन्तान का व्यावहारिक नाम 'काल' है। भिन्न-भिन्न पदार्थों के साथ आकाश के सम्बन्ध होने पर देश की कल्पना व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। इस प्रकार प्रथम प्रस्थान के नौ पदार्थों के स्थान पर पुरुष और प्रकृति ये ही दो स्वतन्त्र

और नित्य पदार्थ माने गये। सांख्य प्रस्थान में न्याय प्रस्थान के बहुत्व-वाद के स्थान पर 'द्वैतवाद' की प्रतिष्ठा की गयी। तृतीय प्रस्थान में पूर्ण अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है। सांख्यों की प्रकृति 'माया' रूप में तथा पुरुष 'ब्रह्म' रूप में गृहीत हुआ, परन्तु एक विशेषता के साथ। माया ब्रह्म की शक्ति मान ली गयी, जिस से ब्रह्म ही विश्व का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण एक अद्वैत तत्त्व बन गया। ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् अनिर्वचनीया माया का कल्पनामात्र है। परन्तु शाक्त-दर्शन में 'अद्वैत' की कल्पना इससे विलक्षण है। सांख्य पुरुष का स्थान ले लिया 'शिव' ने तथा प्रकृति का 'शक्ति' ने। दोनों में अन्तर यह हुआ हुआ है कि पुरुष के बहुत्व के जगह शिव की एकत्व-कल्पना की गयी तथा जड़ात्मिका प्रकृति के स्थान चिद्रूपिणी शक्ति विराजने लगी। षड्दर्शनों में शक्ति जड़ात्मिका ही है। केवल शाक्त दर्शनों में वह चैतन्यमयी स्वीकृत की गयी है। ये शिव-शक्ति एक ही तत्त्व के द्विविध स्थित्यात्मक और क्रियात्मक रूप हैं मूल परमार्थ तत्त्व शिव-शक्ति का साम-रस्य है। स्थित्यात्मक भाव शिव है और क्रियात्मक भाव शक्ति। चैतन्य के दो भाव होते हैं—बहिर्मुख चैतन्य की ही संज्ञा 'शक्ति' तथा अन्तर्मुख चैतन्य का ही दूसरा नाम 'शिव' है। अन्तर्मुख चैतन्य की पूर्णावस्था में न तो कोई कर्ता है, न कोई विषय, परन्तु बहिर्मुखावस्था में विषय ('इदं' = यह, जगत्) स्फुटित होने लगता है, पहले आत्मा (अहं) के अंश-रूप में और पीछे स्वतन्त्र रूप से। 'पर संवित्' में विद्यमान 'अहं' और 'इदं' के इस क्रमशः उन्मेष से ही विश्व प्रपञ्च का उदय होता है। परन्तु मूल तत्त्व तत्त्वातीत है, क्योंकि वह शिव-शक्ति की साम्यावस्था है। यही अद्वय तत्त्व है। इसी तत्त्व को भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते है। शिवशक्ति की सामरस्य मूर्ति को वैष्णवगण 'युगल', बौद्धगण 'युगनद्ध', वज्रयानी लोग 'प्रज्ञोपाय', तान्त्रिक लोग 'यामल' कहते हैं। यह मूर्ति दो होते

हुए भी अद्वय है, सम है, एक है। 'अद्वय' शब्द के द्वारा भी उस का यथार्थ परिचय नहीं दिया जा सकता। वह द्वैताद्वैत उभय कोटि से भिन्न, पृथक् तथा स्वतन्त्र है। 'कुलार्णवतन्त्र' (१।११०) में शङ्कर का इस कथन का तात्पर्य यही है—

"अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥"

भारतीय दार्शनिकों ने वैदिक दर्शनों की कौन कहे, अवैदिक दर्शनों के भीतर छिपे हुए तत्त्व को भलीभाँति पहचान कर दोनों के बीच एक प्रकाण्ड समन्वय उपस्थित करने का महान् प्रयत्न किया है। जिस समन्वय-बुद्धि का संकेत निम्नलिखित पद्य में है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम ही है—

"श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥"

दार्शनिक तत्त्वों का यह पञ्चामृत किस सहृदय के आह्लाद का कारण न होगा ?

---

(७) धर्म और दर्शन

अब तक भारत के प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों का तथा मान्य दर्शनों का थोड़ा परिचय ऊपर दिया गया है। इसके अध्ययन से धर्म और दर्शन की प्रवृत्ति का पता पाठकों को भली भाँति चल गया होगा। हमारे देश में धर्म तथा दर्शन में परस्पर सामञ्जस्य है। आर्यावर्त के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहेली को समझाने के लिए जिन विचारों को जन्म दिया है वे हमारे दर्शन के सर्वस्व हैं। यह जगत् अनेक रूपात्मक है। क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करने वाले पदार्थों का पुञ्ज है। इन पदार्थों के बाह्य, आपाततः विरोधी स्वरूपों के भीतर

एक-समान-रूपता विद्यमान है। इसी अनेकता के भीतर एकता की उपलब्धि हमारे ऋषियों की महती देन है। जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व का सद्भाव है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनहीन तत्त्व की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम 'ब्रह्म' है और इस पिण्डाण्ड (शरीर) की नियामक सत्ता की संज्ञा 'आत्मा' है। ब्रह्म तथा आत्मा एक हैं। ब्रह्म तथा आत्मा की एकता सर्वतोभावेन माननीय है। ब्रह्म सामान्य दृष्टि से तो अलभ्य पदार्थ प्रतीत होता है, परन्तु प्रत्येक प्राणी अपने भीतर अन्तर्यामी आत्मा के रूप से उसी की सत्ता का अनुभव करता है। इसलिए ब्रह्म के साक्षात्कार करने का सब से बड़ा उपाय इसी आत्मा का साक्षात्कार है।

जगत् के समस्त पदार्थों में प्रिय तक वस्तु यही 'आत्मा' है। किसी स्थान से प्रिय वस्तुओं की गणना आरम्भ की जाय, पर्यवसान आत्मा में ही होता है। इस विशाल वृत्तस्थानीय जगत् का केन्द्र यही आत्मा है। केन्द्र निश्चित है, परन्तु परिधि अनन्त, असीम है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी आत्मा के साक्षात्कार को मोक्ष का स्वरूप बतलाया है। जगत् का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। आज की चीज़े देखते कल नष्ट हो जाती हैं। यदि कोई टिकने वाला अनश्वर पदार्थ है, तो वह आत्मा ही है। इसी का साक्षात् अनुभव करना मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके अनुभव के निमित्त पुत्रवत्सला माता की तरह भगवती श्रुति सुन्दर शब्दों में हमें शिक्षा देती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन
मत्या विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति ॥

(बृहदारण्यक २।४।५)

आत्मा का श्रवण करो, मनन करो तथा ध्यान करो। आत्मा के विज्ञान से सब विज्ञात हो जाता है। आत्म तत्त्व का श्रवण श्रुति वाक्यों के द्वारा करना चाहिए, मनन तार्किक युक्तियों से करना चाहिए तथा योग प्रतिपादित उपायों के द्वारा उसका निदिध्यासन करना चाहिए। ये ही तीनों आत्म-दर्शन के उपाय हैं—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः, एते दर्शन-हेतवः॥

आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हमें उन्हीं ग्रन्थों से करना चाहिए जिनमें आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के साक्षात् किये गये अनुभव का सङ्कलन है। ये ही हमारे परम माननीय वेद हैं। श्रवण से ही हमारे कर्तव्य की समाप्ति नहीं होती। मनन की भी आवश्यकता रहती है। युक्तियों के सहारे वेदविहित तथ्यों के स्वरूप को ठीक ढंग से समझना 'मनन' है। योग के मार्ग से उस निश्चित तत्त्व का लगातार चिन्तन करते रहना 'निदिध्यासन' है। इन उपायों से आत्मा का दर्शन मिलता है।

धर्म का लक्षण महर्षि कणाद के शब्दों में है—यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। अर्थात् जिससे लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म संसार में उन्नति की काङ्क्षा रखता है, पर उसके पास मोक्ष की सिद्धि भी उसका लक्ष्य है। यदि वह एक ही पर ध्यान दे, तो उसका उद्देश्य कथमपि पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। पाश्चात्य देशों में धर्म दर्शन का बाधक रहा है, साधक नहीं। विरोधी रहा है, सहायक नहीं। इसीलिए तो वहाँ शुद्ध तर्क के द्वारा विवेचन करनेवाले अनेक विद्वानों को पादरी लोगों ने शूली पर चढ़ा उनके प्राण ले लिए। इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म कतिपय अन्धविश्वासों को ही विशेष महत्त्व देता है। जहाँ कहीं किसीने इन विश्वासों से विपरीत कहना शुरू किया, वहाँ धर्म अड़ जाता है। आध्यात्मिक तत्त्व के पारखियों को जीवन बिताना कठिन हो जाता है। परन्तु भारत-

वर्ष में धर्म और दर्शन में गहरी मैत्री है। दर्शन का आविर्भाव इसीलिए है कि वह तीन तापों से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशबहुल संसार से निवृत्ति पाने के लिए, सुन्दर तथा निश्चित मार्ग का उपदेश देता है—'दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'। विचार-शास्त्र पण्डितों की कमनीय कल्पना का विजम्भणमात्र नहीं है, अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक जगतीतल पर है।

दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा है। दोनों के मूल आधार वेद ही हैं। जैसा विचार, वैसा आचार। दर्शन विचारों का प्रतिपादन है और इन्हीं विचारों के अनुसार आचारों की व्यवस्था करना धर्म का काम है। दर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादक है, तो धर्म व्यवहार का प्रदर्शक है। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्म को अपनी इमारत खड़ा करने के लिए दर्शन नींव रखता है। कोई भी धर्म तब तक विद्वानों का प्रियपात्र नहीं बन सकता, जब तक वह दर्शन की नींव पर खड़ा नहीं होता। भारत में इस सामञ्जस्य का मधुररूप दिखलाई पड़ता है। धर्म के सहयोग से भारतीय दर्शन की व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शन की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा वह तर्कहीन विचारों तथा विश्वासों से अपने आपको बचा सका है। दुःख की निवृत्ति की खोज से धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है। परमात्म-दर्शन, परमेश्वर का दर्शन, महालाभ, 'स्व' को 'पर' में निमग्न कर देना, यही उन्नत दर्शन है। इस प्रकार धर्म की परकाष्ठा का ही नाम दर्शन है। पराकाष्ठा से मतलब यह है कि सच्चे दर्शन से सब का सामञ्जस, सबकी परस्पर अनुकूलता, सब की तुष्टि और पुष्टि हो जाती है। आत्मदर्शन

जिस प्रकार दर्शन का चरम लक्ष्य है, उसी प्रकार यह परमधर्म भी है। मनु और याज्ञवल्क्य आत्म-दर्शन को ही परमधर्म मानते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
(मनु० अ० १२)

इज्या-चार-दया-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म-दर्शनम्॥
(या० स्मृ० १)

इस पुण्यभूमि भारत में गंगा और यमुना के सम्मिलन के समान धर्म और दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामरस्य का सूचक है। भगवती श्रुति दोनों का मूल है। उस मूल को तिरस्कृत कर देने पर दोनों की स्थिति आपत्तियों से घिरी रहती है। केवल तर्क से किसी बात का ठीक निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए श्रुति का आश्रय सदा आदरणीय है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में इस तत्त्व का विवेचन बहुत ठीक किया है—

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नाति प्रसीदति॥

—•—